कृष्णकाव्य की रूपरेखा

लेखक

उपाध्याय वेदमित्र 'व्रती' साहित्यालंकार

साहित्यरत्न, शास्त्री, हिंदी-प्रभाकर,

सिद्धांत-विशारद, विद्यारत्न

(देवसमाज डिग्री-कालेज, लाहौर।)

ओरिएण्टल बुकडिपो

देहली।

सेवा में

अपने परम श्रद्धेय

श्री पूज्य गुरु डा० बनारसीदास जी जैन

एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन),

रीडर इन-हिंदी

पंजाब विश्व-विद्यालय, लाहौर ।

अपनी ओर से

प्रस्तुत पुस्तक को मेरे मस्तिष्क का विकार ही मानिये। इससे अधिक इसके प्रणयन का और भी कुछ उद्देश्य हो सकता है, इसे मैं नहीं कह सकता। साहित्य-धारा की अनेक गति-विधियों में से मैंने एक को चुना था। पता नहीं मैंने भक्ति-धारा में से कृष्णकाव्य को ही क्यों चुना। उसे मैं स्वयं ही नहीं जान पाता। मैं कोई भक्त भी नहीं, जो नाम गुण-गान के उद्देश्य से इस विषय को नापूं। योगीराज कृष्ण के महाभारत वाले सत्य-स्वरूप का पूरा पारखी भी मैं नहीं जो उसके अंकन का उद्देश्य लेकर कागज लीपने को प्रस्तुत हुआ होऊं। तो फिर!

हां, इतना अवश्य जानता हूं कि हमारे साहित्य में मानव की महत्ता समझी गई तो उसी महत्त्व को ईश्वरत्व प्राप्त हो गया, परंतु उसका अंकन जिस रूप में शताब्दियों और सहस्राब्दियों तक होता रहा वह उस महात्मा के अनुरूप नहीं बन पड़ा। भक्तों ने कविता की तरंगिणी में बहते हुए, अपने उपास्य देव को शृंगार-सागर की तरंगों में जो डुबकियां दीं, वे उन भक्तों को भले ही आनंद-विभोर कर सकी हों, परंतु भगवान् के पवित्र स्वरूप का इससे कितना प्रतिपादन हो पाया होगा, इसे वे ही जानें। भक्तों—भक्त-कवियों ने आदि से अंत तक लगभग एक ही स्वर में गाया। गाया वही शृंगार का सुर भरकर गोपियों मय भगवान् का गीत। यह हम नहीं कहते कि कृष्ण-काव्य-धारा में परिवर्तन हुआ ही नहीं। भक्ति-क्षेत्र में सिद्धांततः

अनेक परिवर्तन आये—अनेक मत-मतांतरों की स्थापना हुई, परंतु भगवान् रहे शृंगार-सागर के मध्य ही। हां, आज के कुछेक कवियों ने उसका रंग बदलने का प्रयास किया तो सही, परंतु 'भागवत' के प्रभाव मे मुक्त वे भी न हो सके। तात्पर्य यह कि हमारे साहित्य में कृष्ण का वह स्वरूप प्रस्तुत नहीं हो सका जो उनकी गीता में निहित था—जो कृष्णद्वैपायन के महाभारत में निहित था।

प्रस्तुत पुस्तक यूं तो एक विवरणात्मक संग्रह-मात्र ही है, परंतु यथाशक्ति, उसमें सिद्धांतों और रचनाओं का विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के विवेचन से यदि किसी की श्रद्धा को ठेस पहुंचे तो इसका मुझे भी खेद होगा, परंतु मैं समझता हूं कि इससे भी साहित्य को कुछ लाभ ही पहुंचेगा। यदि चोट खाकर कोई अपने विचार प्रस्तुत करने को उद्यत हुआ तो इससे भी साहित्य की गोद ही भरेगी।

हिंदी साहित्य में भक्ति-साहित्य का अपना एक स्थान है, और भक्ति-साहित्य में कृष्णकाव्य का अपना एक मोल है। इसी को यूं कह लीजिये कि कृष्णकाव्य हमारे साहित्य की एक विभूति है। इस महान् भंडार में कितने रत्न होंगे—कितनी मणियां होंगी; इसे कौन गिने! यहां तो अमूल्य निधियों और सागरों तक की कमी नहीं। यदि साहित्य-परिपालक महानुभाव इस भंडार के इन अमर रत्नों को प्रकाश में ला सकें तो कितना उपकार होगा हमारे साहित्य पर उन देवताओं का। अस्तु।

प्रस्तुत रूपरेखा की रेखाएं तो इस मस्तिष्क में मुद्दतों से खिंच रही

थीं, परंतु इसका लेखनी-बंधन आरंभ हुआ गत मार्च मास से ही। इधर यह पुस्तक आरंभ हुई, उधर पंजाब में महाभारत आरंभ हो गया। ५ मार्च से सांप्रदायिक दंगों—दंगों क्या जंगों—ने जीवन को हिला डाला। लाहौर के उस मोर्चे पर जो पूरे साढ़े पाँच मास तक जमा रहा, उसी पर इन भक्तों के गीतों में व्यस्त रहता हुआ यह रचना प्रस्तुत करने में कृतकार्य हो पाया। पुस्तक स्वाधीनता-पर्व पर छपकर तैयार हो गई थी। छपकर सारे फर्मे प्रकाशक की दूकान में आ चुके थे। केवल भूमिका प्रेस में थी। जिस प्रेस में वह छप रही थी उसे पाकिस्तान की अग्नि खा गई। पता नहीं उस समय मैंने क्या कुछ लिखा था: वह सभी कुछ केवल पुस्तक संबंधी था और अब जो कुछ है उसमें एक मेरे कष्ट की कहानी भी है।

"रूपरेखा" क्या है?—कैसी है? इसे मैं स्वयं ही बता दूं! यह मेरे मानसिक व्यसन की परिपूर्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। फिर भी यदि कुछ ग्राह्य है सो तो पाठकों का और यदि कुछ त्याज्य है सो मेरा।

इसकी रचना के लिये जिन महानुभावों के परोक्ष तथा साक्षात् सहयोग का लाभ मुझे हुआ है उन्हें मैं कभी नहीं भुला सकता। श्रद्धेय डा० धीरेंद्र 'वर्मा', श्री डा० नलिनीमोहन 'सान्याल', श्री डा० लक्ष्मीचंद्र जी 'खुराना', श्री बाबू रामचंद्र जी 'वर्मा', श्री बा० श्यामसुंदरदास जी, आचार्य रामचंद्र जी 'शुक्ल', श्रीयुत डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पं० अयोध्यासिंह 'उपाध्याय', श्री डा० जगन्नाथ प्रसाद 'शर्मा', श्री वियोगीहरि, श्री डा० सूर्यकांत

अनेक परिवर्तन आये—अनेक मत-मतांतरों की स्थापना हुई, परंतु भगवान् रहे शृंगार-सागर के मध्य ही। हां, आज के कुछेक कवियों ने उसका रंग बदलने का प्रयास किया तो सही, परंतु 'भागवत' के प्रभाव से मुक्त वे भी न हो सके। तात्पर्य यह कि हमारे साहित्य में कृष्ण का वह स्वरूप प्रस्तुत नहीं हो सका जो उनकी गीता में निहित था—जो कृष्णद्वैपायन के महाभारत में निहित था।

प्रस्तुत पुस्तक यूं तो एक विवरणात्मक संग्रह-मात्र ही है, परंतु यथाशक्ति, उसमें सिद्धांतों और रचनाओं का विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के विवेचन से यदि किसी की श्रद्धा को ठेस पहुंचे तो इसका मुझे भी खेद होगा, परंतु मैं समझता हूं कि इससे भी साहित्य को कुछ लाभ ही पहुंचेगा। यदि चोट खाकर कोई अपने विचार प्रस्तुत करने को उद्यत हुआ तो इससे भी साहित्य की गोद ही भरेगी।

हिंदी साहित्य में भक्ति-साहित्य का अपना एक स्थान है, और भक्ति-साहित्य में कृष्णकाव्य का अपना एक मोल है। इसी को यूं कह लीजिये कि कृष्णकाव्य हमारे साहित्य की एक विभूति है। इस महान् भांडार में कितने रत्न होंगे—कितनी मणियां होंगी; इसे कौन गिने! यहां तो अमूल्य निधियों और सागरों तक की कमी नहीं। यदि साहित्य-परिपालक महानुभाव इस भांडार के इन अमर रत्नों को प्रकाश में ला सकें तो कितना उपकार होगा हमारे साहित्य पर उन देवताओं का। अस्तु।

प्रस्तुत रूपरेखा की रेखाएं तो इस मस्तिष्क में मुद्दतों से खिंच रही

थीं, परन्तु इसका लेखनी-बंधन आरंभ हुआ गत मार्च मास से ही। इधर यह पुस्तक आरंभ हुई, उधर पंजाब में महाभारत आरंभ हो गया। ५ मार्च से सांप्रदायिक दंगों—दंगों क्या जंगों—ने जीवन को हिला डाला। लाहौर के उस मोर्चे पर जो पूरे साढ़े पाँच मास तक जमा रहा, उसी पर इन भक्तों के गीतों में व्यस्त रहता हुआ यह रचना प्रस्तुत करने में कृतकार्य हो पाया। पुस्तक स्वाधीनता-पर्व पर छपकर तैयार हो गई थी। छपकर सारे फर्मे प्रकाशक की दूकान में आ चुके थे। केवल भूमिका प्रेस में थी। जिस प्रेस में वह छप रही थी उसे पाकिस्तान की अग्नि खा गई। पता नहीं उस समय मैंने क्या कुछ लिखा था: वह सभी कुछ केवल पुस्तक संबंधी था और अब जो कुछ है उसमें एक मेरे कष्ट की कहानी भी है।

"रूपरेखा" क्या है?—कैसी है? इसे मैं स्वयं ही बता दूं! यह मेरे मानसिक व्यसन की परिपूर्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। फिर भी यदि कुछ ग्राह्य है सो तो पाठकों का और यदि कुछ त्याज्य है सो मेरा।

इसकी रचना के लिये जिन महानुभावों के परोक्ष तथा साक्षात सहयोग का लाभ मुझे हुआ है उन्हें मैं कभी नहीं भुला सकता। श्रद्धेय डा० धीरेंद्र 'वर्मा', श्री डा० नलिनीमोहन 'सान्याल', श्री डा० लक्ष्मीचंद्र जी 'खुराना', श्री बाबू रामचंद्र जी 'वर्मा', श्री बा० श्यामसुंदरदास जी, आचार्य रामचंद्र जी 'शुक्ल', श्रीयुत डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पं० अयोध्यासिंह 'उपाध्याय', श्री डा० जगन्नाथ प्रसाद 'शर्मा', श्री वियोगीहरि, श्री डा० सूर्यकांत

जी, श्री बाबू जयशंकरप्रसाद, श्री डा० रामकुमार 'वर्मा', पं० उमाशंकर 'शुक्ल', श्री हजारीप्रसाद 'द्विवेदी', श्री पं० विश्वनाथप्रसाद 'मिश्र' श्री बा० गुलाबराय एम० ए०, माननीय 'मिश्रबंधु', श्री कृष्णशंकर 'शुक्ल', श्री रामनरेश 'त्रिपाठी', डा० ब्रजेश्वर तथा श्री ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' का अत्यंत आभारी हूं, जिनमें से मुझे अनेकों के ग्रंथों से सहायता मिली है, और अनेकों के व्यक्तिगत आशीर्वाद से।

अपने परम श्रद्धेय डा० हरदेव बाहरी को मैं भूल नहीं सकता और विशेषतया ऐसी स्थिति में जब कि पाकिस्तान-स्थापना के अशुभ मुहूर्त से बिछुड़े वे अभी तक दिखाई नहीं पड़े। यह सब उन्हीं के प्रोत्साहन का फल है। परंतु उनकी सरसता सर्वविदित है, इसलिये सूखे विरस धन्यवाद से उन्हें संभवतया कुछ अच्छा प्रतीत न होगा। उन्हें उचित भेंट दिये बिना अभी मैं उनका आभारी और ऋणिया रहना ही अधिक अच्छा समझूंगा।

और प्रोफेसर संत धर्मचंद जी एम० ए० (ईस्ट पंजाब यूनिवर्सिटी कालेज, नई दिल्ली) को तो भला मैं भूल ही कैसे सकता हूं। उन्होंने ही तो लाहौर के विक्षुब्ध वातावरण में इसके प्रकाशन का बीड़ा उठाया था। प्रकाशित हो जाने पर सारी कापियां पाकिस्तानी सरकार के पंजों में पहुंच गई। फिर भी वहां से किसी प्रकार दो प्रतियां बचा कर लाने में जो साहस उन्होंने दिखाया है वह सचमुच उन्हीं के योग्य था। धन्यवाद द्वारा उनके आभार से मुक्त होना असंभव ही है।

प्रेस कापी तैयार करने तथा प्रूफ शोधने में जो सहयोग अनुज वीरेंद्रकुमार 'हिंदी-प्रभाकर' तथा बहिन शीलादेवी तथा विमलादेवी जी ने दिया है उसके लिये मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूं।

अंत में अपने माननीय पाठकों से निवेदन करूंगा कि वे इसे मेरा दुस्साहस समझकर क्षमा करें। हां, फिर यही दोहराकर संतोष करूंगा कि इसमें उन्हें जो कुछ रुचे वह उनका है; शेष जो अप्रिय है, वह मेरा।

दीपमालिकोत्सव
कार्तिक—अमावस्या
संवत् २००० वि०

वेदमित्र 'व्रती'
काशी नागरी प्रचारणी सभा
बनारस।
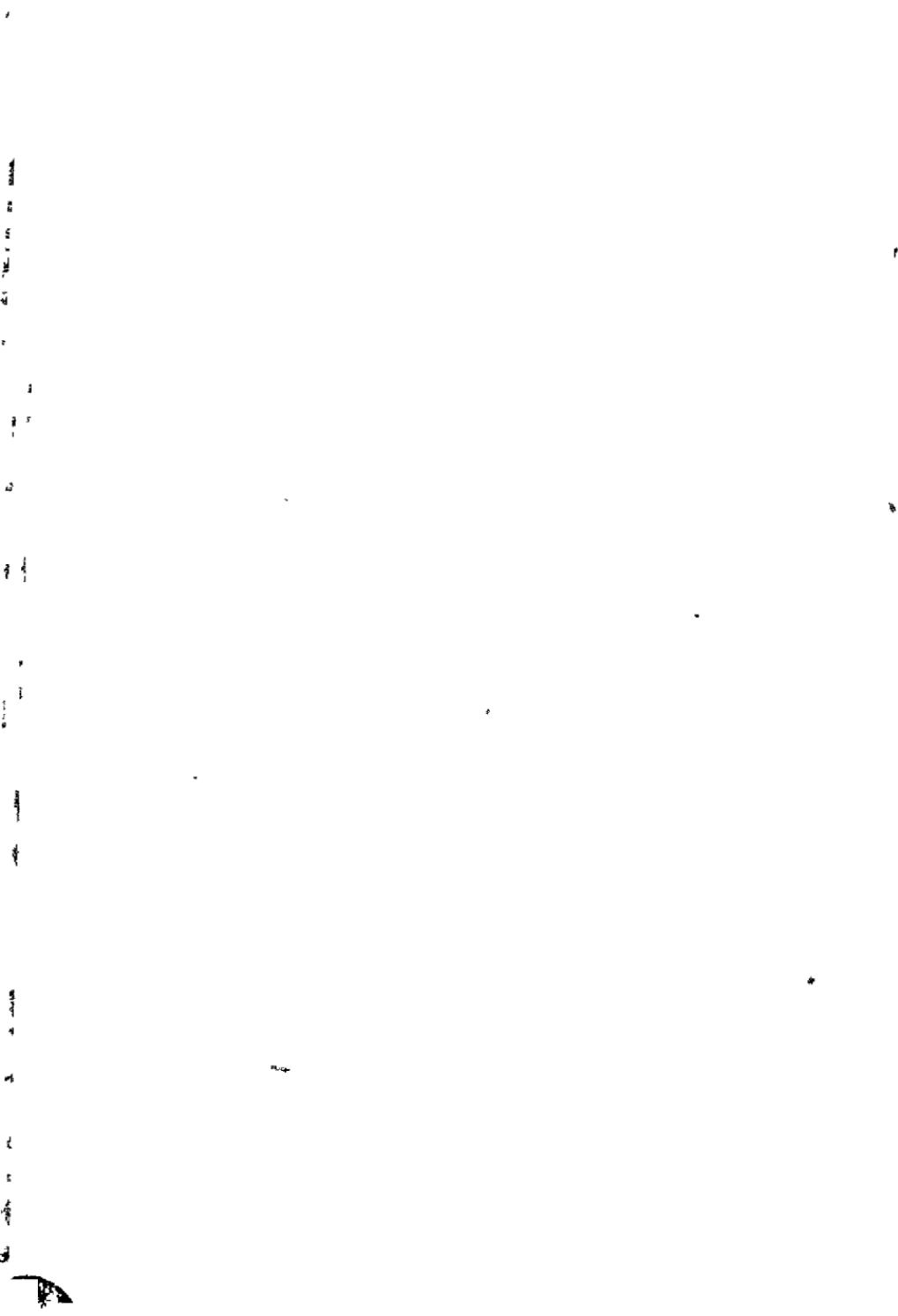
कृष्णकाव्य की रूपरेखा

प्रकरण – अनुक्रमणिका

—☆—

प्रथम दर्शन

द्वितीय दर्शन

श्रृंगार-युगीन कृष्ण-कवि

☆

कृष्णकाव्य की रूपरेखा

कृष्णकाव्य की रूपरेखा

★

प्रथम दर्शन

★

प्रथम अध्याय

★

हिंदी साहित्य में कृष्ण-भक्ति का प्रादुर्भाव

महाभारत में श्रीकृष्णचंद्र का व्यक्तित्व एक राजनीतिज्ञ तथा नीति-नियामक के रूप में प्रकट हुआ है। एक महान् युद्ध की भूमि का अवतरण प्रस्तुत करना और स्वयं एक युद्ध-नेता के रूप में रहते हुए अपने सपक्षी के लिये विजय-प्राप्ति के उपाय एकत्र करना ही उनका एकमात्र नहीं तो सर्वोपरि ध्येय अवश्य रहा है। वहां वे पुरुष से पुरुषोत्तम भले ही बन गये हैं, परंतु भगवान् नहीं बने। वहां पर उनका जीवन केवल एक ऐतिहासिक महापुरुष से अधिक नहीं है। निःसंदेह उनकी अलौकिक वीरता—कंसवध, असुर-संहार, स्वेच्छाचारी शासकों का दमन, अन्याय के सामने पीठ ठोंककर खड़े हो जाना—यह सभी कुछ महाभारत में है, परंतु वहां वे गोप-जीवन से दूर, बहुत दूर और राधा से तो सर्वथा शून्य ही हैं। वहां वे न तो कोई गोप

हैं और न ही राधा के 'प्रिय-नायक'। महाभारत में राधा का नाम ही कहीं नहीं। उसके तो नाम की कल्पना भी महाभारत के रचना-काल से बहुत पीछे की बात है।

महाभारत से हजारों वर्षों पश्चात्—ईसा से कुछ इधर-उधर के समय में ही—पुराणों की रचना आरंभ होती है। हरिवंश, वायु, वाराह, अग्नि, भागवत, विष्णु, ब्रह्मवैवर्त और नृसिंह पुराणों में कृष्ण को ईश्वरत्व प्राप्त हुआ है। उनके महत्त्व के निर्माण में अधिक सहयोग हरिवंशपुराण, वायुपुराण, विष्णुपुराण तथा भागवतपुराण का रहा है। प्रायः पुराणों में राधा का नाम नहीं मिलता। कृष्ण-भक्ति के प्रमुख आधार भागवत तक में राधा का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। हां, एक गोपी का निर्देश अवश्य है जिसने पूर्व जन्म में कृष्ण की आराधना की है। इस आराधना शब्द से ही राधा की उत्पत्ति का अनुमान लगाया जाता है। राधा शब्द की व्युत्पत्ति "राध्" धातु से मान सकते हैं, जिसका अर्थ 'सेवा' या 'प्रसन्न करना' है। धार्मिक क्षेत्र में राधा शब्द का प्रयोग सबसे पहले किस ग्रंथ में हुआ, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता, परंतु इस संबंध में जिस ग्रंथ से कुछ थोड़ा-बहुत परिचय मिलता है वह 'गोपालपातनी' उपनिषद् है। इसमें राधा 'कृष्ण-प्रेयसी' के रूप में प्रस्तुत हुई है। राधा संप्रदाय वाले लोग इस ग्रंथ को बहुत मानते हैं। इस ग्रंथ की रचना मध्वाचार्य-भाष्य और अनुव्याख्यान के पश्चात् ही हुई होगी, क्योंकि मध्व ने तो राधा का कोई

भी उल्लेख नहीं किया। मध्वाचार्य का समय है विक्रम की तेरहवीं शती के मध्य के लगभग। माधव संप्रदाय के निकट पश्चात् प्रचलित होने वाले निंबार्क तथा विष्णुस्वामी संप्रदायों में कृष्ण का ब्रह्मत्व स्वीकार कर लिया गया। इन दोनों ही संप्रदायों में राधा का निर्देश है। निंबार्कों में गीतगोविंद के रचयिता जयदेव हुए जिन्होंने राधा और कृष्ण के विहार में गीतगोविंद की रचना की। विष्णुस्वामी की जीवनी का विशेष पता नहीं चलता, परंतु इतना ज्ञात होता है कि वे एक अत्यंत प्रसिद्ध महात्मा तथा पंथप्रवर्तक थे। कृष्ण-भक्ति के साथ शिवोपासना का संकेत भी उन्होंने किया है। वल्लभाचार्य तक ने इनके दार्शनिक तथा आध्यात्मिक सिद्धांतों का अनुगमन किया है। निंबार्कस्वामी (विक्रमी १३वीं शती) का स्थान भी रामानुज की कोटि का बताया जाता है। आप दाक्षिणात्य महात्मा थे। संस्कृत के विद्वान् तथा दर्शन के मर्मज्ञ थे। मध्वाचार्य भी दाक्षिणात्य महात्मा थे और शंकर के नीरस अद्वैतवाद तथा मायावाद के प्रबल विरोधी और विष्णु तथा लक्ष्मी के अनन्योपासक थे।

विष्णु तथा निंबार्क संप्रदायों में राधा का स्थान कृष्ण-भक्ति के साथ-साथ एक क्षीण रेखा के रूप में चल रहा था। कृष्ण-भक्ति के साथ राधा-भक्ति को जोड़ देने का भारी कार्य गौड़ी संप्रदाय के महात्मा रूपसनातन जी (चैतन्य महाप्रभु के शिष्य) का था। रूपसनातन वृंदावन में बस गये और गौड़-वैष्णव संप्रदाय की स्थापना कर दी। इसी गौड़-वैष्णव संप्रदाय

की एक प्रमुख शाखा 'राधावल्लभी संप्रदाय' नाम की थी। अन्य संप्रदायों की अपेक्षा इसी राधावल्लभी संप्रदाय का प्रभाव हमारे साहित्य पर सबसे पहले पड़ा। हितहरिवंश इस संप्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक थे। इसी से इस संप्रदाय को हित संप्रदाय भी कहते हैं। इसी प्रकार निंबार्क संप्रदाय की एक शाखा टट्टी संप्रदाय अथवा सखी संप्रदाय के नाम से भी चल निकली। महात्मा हरिदास इसके प्रवर्तक थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन महात्माओं के समय तक कृष्ण और राधा हमारे धर्मक्षेत्र में विष्णु और लक्ष्मी का प्रतिमूर्ति-भाव ग्रहण कर चुके थे। यहीं से हमारे साहित्य में कृष्ण-भक्ति का आरंभ मानना चाहिये।

हमारे साहित्य में विद्यापति कृष्णकाव्य के प्रथम प्रणेता माने जाते हैं जिन पर कि जयदेव के गीतगोविंद का प्रभाव प्रसिद्ध है। इस रूप में यदि जयदेव ही कृष्णकाव्य की रूपरेखा में प्रथम बिंदु मान लिये जावें तो अनुचित न होगा।

जयदेव

जयदेव को निंबार्कस्वामी का समकालीन मानना चाहिये, क्योंकि उनकी रचना से उनका निंबार्क मतावलंबी होना स्पष्ट है और निंबार्कस्वामी का समय विक्रम की १२वीं शती के उत्तरार्ध का है। अतः जयदेव का समय भी इसी के कुछ थोड़ा पीछे का मानना चाहिये। इनका जन्म बंगाल के वीरभूमि जिले में किंदुबिल्व ग्राम में हुआ था। इनकी माता का नाम राधादेवी

और पिता का नाम भोजदेव था। ये बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के दर्बारी कवि थे। दर्बार में इन्होंने अच्छा नाम प्राप्त किया था। गीतगोविंद इनकी अमर रचना और इनका यश-प्रतीक है। राधा का व्यक्तित्व सबसे पहले इसी ग्रंथ में प्रकट हुआ है। इसमें राधाकृष्ण का मधुर-मिलन, प्रेम-क्रीड़ा, मादक प्रेमानुभूति और सरस शब्दावली का चित्र प्राणमय हो उठा है। गीतगोविंद की रचना संस्कृत में हुई है। सरसता और मधुरता में अपने जोड़ का वह स्वयं ही है। प्रसिद्ध इतिहासकार कीथ लिखता है—"जयदेव माधुर्य और भावों का स्वामी है, उसकी रचना का पूर्ण अनुवाद किसी भी भाषा में ठीक-ठीक नहीं हो सकता।" यह वह ग्रंथ है जिसने विद्यापति को मार्ग दर्शाया और जिससे सूरदास ने अंधेरी आंखों में प्रकाश पाया। खेद है कि जयदेव गीतगोविंद जैसी कोमल-कांत पदावलियां हिंदी के लिये प्रदान नहीं कर सके। उनकी हिंदी-रचना अप्राप्य-सी है। उनके दो पद गुरुग्रंथ साहिब में अवश्य मिलते हैं, परंतु इससे ज्ञात होता है कि हिंदी में उनको वह गौरव प्राप्त नहीं हो सका जो कि उन्हें संस्कृत-क्षेत्र में मिल चुका था। फिर भी कृष्णकाव्य के क्षेत्र में उन्होंने हिंदी-कवियों को प्रेरणा का दान अवश्य प्रदान किया है और इसका प्रमुख आभार-वहन करते हैं कविवर विद्यापति ठाकुर।

विद्यापति ठाकुर

ठाकुर जी विसपी, जिला दर्भंगा (बिहार) के रहने

वाले मैथिल ब्राह्मण थे। बिसपीग्राम उन्होंने राजा शिवसिंह से उपहार में पाया था। ताम्र-पत्र द्वारा बिसपीग्राम प्रदान करते समय शिवसिंह ने उन्हें अभिनव जयदेव की उपाधि से विभूषित किया था।

विद्यापति के संबंध में विशेष अनुसंधान करने वाले डाक्टर उमेश मिश्र के अनुमानानुसार इनका समय संवत् १४२५ से १५३२ तक निश्चित होता है। ये संस्कृत के प्रौढ़ पंडित थे। इनकी रचनाएं प्रायः संस्कृत में ही प्रस्तुत हुई हैं। अपभ्रंश और मैथिली में भी उन्होंने पर्याप्त रचना की है। शैवसर्वस्व, शैवसर्वस्वसार प्रमाण, भूपरिक्रमा आदि लगभग एक दर्जन ग्रंथ उनकी संस्कृत-कृतियां हैं और कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका अवहट्ठ अथवा अपभ्रष्ट भाषा की रचनाएं हैं। उनकी पदावली मैथिली में रची गई है। उनकी संस्कृतेतर अन्य रचनाएं तत्कालीन हिंदी के बहुत निकट की वस्तु रही हैं।

विद्यापति एक विद्वान् वंश में उत्पन्न हुए थे। पिता गणपति ठाकुर मिथिलानरेश महाराज गणेश्वर के आश्रित रहे थे और उनके बाबा जयदत्त तो संस्कृत के विद्वान् ही नहीं, अपितु एक अच्छे संत भी माने जाते थे। और इसीलिये उन्हें योगेश्वर की उपाधि भी मिली थी।

विद्यापति भक्ति और शृंगार के कवि थे। उनकी रचना में तत्कालीन परिस्थितियों का भी अच्छा चित्र प्रस्तुत हुआ है। विद्यापति वास्तव में शैव थे। अपने काव्य में वे भक्ति-परिधि

में शैव हो रहे। उनकी रचना में राधा और कृष्ण भी हैं तो सही, परंतु उपास्यदेव के रूप में नहीं। राधा-कृष्ण संबंधिनी रचना में उन पर जयदेव का प्रभाव रहा है; इसीलिये भक्ति-क्षेत्र में भी वासना ही प्रमुख रही। इन शृंगार संबंधी पदों की कोमल-कांत रचना में कवि का संगीतमय हृदय गुंजार कर उठा है।

अभिनव जीवन की रंगीनियों के कवि थे; तभी तो उनकी दृष्टि में यौवन के दिन गौरव के दिन थे। संभवतः इसी से उनके काव्य में अंतरानुभूतियों के चित्रों का अभाव रहा और केवल बाह्य-जगत् ही चित्रित हुआ। उनकी रसिकता ने उन्हें कहीं-कहीं इतना नग्न कर दिया है कि शृंगार अपनी अश्लीलता की सीमा के पार ही हो गया है। उनकी राधा मर्यादा से बाहर हो गई है। शायद यह प्रभाव उन पर राजदर्बार के आश्रित होने के कारण पड़ा हो।

विद्यापति ने अपने समय में अच्छा मान प्राप्त किया था। इसी सम्मान संपादन के साथ उन्हें अनेक उपाधियां भी प्राप्त हुई थीं। उनकी रचनाओं के अनुसंधान से ज्ञात होता है कि उन्हें अभिनव जयदेव, महाराजपंडित, कविशेखर, कविकंठहार, कविरत्न, दशविधान और कविरंजन आदि सोलह उपाधियों से अलंकृत किया जा चुका था।

कवि अभिनव सफल कवि थे। अपने समय में उन्हें बड़ी भारी लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। इस लोकप्रियता का कारण बंग के, वैष्णव धर्म के सर्वश्रेष्ठ नेता चैतन्य महाप्रभु कहे

आते हैं। उनकी सरस वाणी और हृदय की पवित्र तल्लीनता से गेयमान विद्यापति के पदों ने लोगों के हृदयमंदिरों में अटल स्थान बना लिया था। चैतन्य प्रभु का प्रचार-क्षेत्र प्रायः बंगाल ही रहा। इसलिये विद्यापति के पदों ने महाप्रभु की वाणी के द्वारा कुछ न कुछ बंगला का रूप भी अवश्य लिया होगा। संभवतः इन्हीं कारणों ने विचारकों के हृदयों में उनके प्रति बंगाली होने का भ्रम उत्पन्न किया हो। वास्तव में तो वे बिहारी थे। मैथिली में उनकी रचना हुई। कुछ थोड़ा-बहुत बंगला-प्रभाव रचना पर अवश्य रहा होगा, परंतु वे बंगला-कवि कदापि न थे। उन्हें हिंदी-कवि कहने में हमें कोई संकोच नहीं होना चाहिये।

जयदेव और विद्यापति के अध्ययन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि उनकी कृतियों में राधा-कृष्ण तो थे, उनका अलौकिक मनोमोहक रूप भी था, उनके जीवन में चित्ताकर्षक क्रीड़ाएं भी थीं, यौवन और मादकता भी थी और साथ ही थी रसमाधुरी-संयुत-शृंगार की पराकाष्ठा; परंतु नहीं थी तो केवल एक भक्ति-भावना। कृष्ण के पावन चरित्र में भक्ति-भावना के सामंजस्य का श्रेय भक्तिकाल के कवियों को ही प्राप्त हो सका और महाप्रभु वल्लभाचार्य का नाम उन सबमें सबसे पहला रहा।

आचार्य वल्लभ के समय से हमारे साहित्य में कृष्ण और राधा का स्वरूप कुछ और ही हो जाता है। यहां राधा-कृष्ण केवल सांसारिक सौंदर्य के उपकरण-मात्र ही नहीं रह जाते, अपितु तत्कालीन भारतीय जनता की निराशा-यामिनी के अंध-

कार-विनाशक के रूप में घट-घट में प्रकाश का विस्तार करके आशाप्यायनकारी सिद्ध हो जाते हैं। यही युगल-मूर्ति सदियों तक निराशित भारतीयों के हृदयों को सहलाने का कार्य करती रही है। हमारे साहित्य की भक्तिकालीन सगुणोपासना में कृष्ण-काव्य का भारी महत्त्व है, और इसके लिये महान् श्रेय के अधिकारी हैं महाप्रभु वल्लभाचार्य। वल्लभाचार्य और उनके शिष्य-प्रशिष्यों—विशेषतया अष्टछाप के कवियों—ने कृष्णकाव्य की पावन-वरेण्य-वाहिनी में वह वेग उत्पन्न किया जिससे उसकी अविरल धारा किसी न किसी रूप में आज तक बराबर चली आती है। इसी सगुण धारा का उल्लेख अगले अध्यायों में किया जायेगा।

★

द्वितीय अध्याय

श्री वल्लभाचार्य और उनका पुष्टिमार्ग

पंद्रहवीं तथा सोलहवीं विक्रमी शताब्दी में देशभर में जो वैष्णव धर्म संबंधी आन्दोलन चला, श्री वल्लभाचार्य उसके प्रधान प्रवर्तकों में से एक थे। वे वेद-वेदांग के पारंगत विद्वान् थे। उन्होंने पुष्टिमार्ग नाम से अपना एक नया संप्रदाय स्थापित किया। पुष्टिमार्गी धारणा में प्रेमसाधना को विशेषता दी जाती है। लोक-मर्यादा तथा वेद-मर्यादा, दोनों ही इस प्रेम-साधना के सामने गौण रहते हैं। इस प्रेमसाधना में जीव की प्रवृत्ति भगवान् की पुष्टि अथवा अनुग्रह से ही होती है। इसी पुष्टि अर्थात् अनुग्रह-भावना के कारण इस संप्रदाय का नाम भी पुष्टिमार्ग ही पड़ गया। पुष्टिमार्ग ने हिंदी को अनेक प्रख्यात कवि प्रदान किये। सूर इसी पुष्टिमार्ग के प्रसिद्ध कवि हुए।

वल्लभाचार्य का जन्म काशी में एक तैलंग ब्राह्मण के घर में

संवत् १५३५ वि० में हुआ था। इनके पिता विष्णु संप्रदाय के अनुयायी थे। काशी में इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। ये संस्कृत के बड़े भारी पंडित और अपने समय के शास्त्रार्थ-महारथी थे। इनके दार्शनिक सिद्धांत "शुद्धाद्वैतवाद" नाम से प्रसिद्ध हुए, जिनमें एक ओर तो रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद को हटाया गया और दूसरी ओर शंकर के मायावाद का खंडन किया गया। वल्लभाचार्य ने अपने को अग्नि का अवतार और कृष्ण का शिष्य बताया है। वल्लभ संप्रदाय में कृष्ण को परब्रह्म और राधा को उनकी चिरप्रणयिनी मानकर उपासना की जाती है। शंकर की भांति वल्लभ मत जगत् को मिथ्या नहीं मानता। उसका कथन है कि माया भी ब्रह्म की ही शक्ति है, इसलिये मायात्मक जगत् मिथ्या नहीं हो सकता।

वल्लभाचार्य संवत् १५४८ में गोवर्धन पर श्रीनाथ जी की मूर्ति स्थापित कर और वहां की पूजा का उत्तरदायित्व अपने शिष्यों पर डालकर यात्रा पर निकल पड़े। कहते हैं उन्होंने तीन बार देशभ्रमण किया और अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिये अनेक व्याख्यान दिये तथा शास्त्रार्थ किये। आचार्य वल्लभ स्वयं विष्णुस्वामी के शिष्य थे, परंतु उन्होंने अलग ही वल्लभ मत की नींव डाली; पुष्टिमार्ग इसी का दूसरा नाम था। तत्का-लीन उत्तर भारत पर वल्लभ मत का महान् प्रभाव पड़ा। एक समय था कि कृष्ण-भक्ति के अन्य छोटे-बड़े संप्रदाय इसी के प्रभाव में विलीन हो गये थे। उस समय के प्रभावशाली मत

विष्णु संप्रदाय और निंबार्क मत सर्वथा दब-से गये थे। उस समय भारत में केवल दो संप्रदायों का नाम चल रहा था; बंगाल में महाप्रभु चैतन्य की पताका गड़ी थी और शेष उत्तर भारत में आचार्य वल्लभ का नाम गूंज रहा था। वल्लभ संप्रदाय के प्रबल आवेग के कारण ही राम-भक्ति को भी कृष्ण-भक्ति के तुल्य स्थान प्राप्त नहीं हो सका।

दार्शनिक सिद्धांत-निरूपण के अतिरिक्त आचार्य वल्लभ ने कुछ व्यावहारिक नियम भी प्रचलित किये थे, जिनका पालन उनके मतावलंबी आज भी करते हैं। इन व्यावहारिक नियमों में उल्लेखनीय बात गुरु-शिष्य का संबंध है। वल्लभ संप्रदाय में गुरु-शिष्य की परंपरा में यह सबंध चलता है कि गुरु का पुत्र ही गद्दी का अधिकारी होगा। इस रूप में आचार्यों के लिए गार्हस्थ्य परंपरा बांध दी गई थी। इस परंपरा ने मत को भारी हानि पहुंचाई। अनधिकारी गुरुओं के कारण विलास और अनाचार की वृद्धि हुई। वंश-परंपरा में चलने वाली गुरुआई ने अधिकारियों में राजसी ठाठ-बाट की भावना भरकर उन्हें धर्म-मार्ग से विमुख करने में कोई बात उठा न रखी। इसका फल यह हुआ कि राधा-कृष्ण के स्वर्गीय प्रेम को सांसारिक वासना का कलंक ले डूबा। आजकल इस पंथ के अनुयायी प्रायःकर गुजरात और राजपूताने के धनी वैश्य लोग हैं। बड़े-बड़े नगरों में रासलीलाओं का आयोजन होता है। इन लीलाओं में सच्चे भक्त कम और विलासी अधर्मी अधिक सम्मिलित होते हैं।

वल्लभाचार्य संस्कृत के भारी विद्वान् थे। "वेदांत-सूत्र अनु-भाष्य", "भागवत सुबोधिनी टीका" और "तत्त्वदीप निबंध" इनकी प्रधान कृतियां हैं। ये सब संस्कृत-रचनाएं हैं। हिंदी में उन्होंने कुछेक पदों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं लिखा।

ब्रजमंडल वल्लभ संप्रदाय का गढ़ बन गया; दिनों-दिन शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी। इनके शिष्यों में हिंदी के अनेक प्रसिद्ध कवि हुए, परंतु पुष्टिमार्ग का सबसे प्रबल प्रचारक और व्याख्याता वह महात्मा था जिसे आज भी हिंदी-साहित्य-जगत् का सूर्य कहा जाता है। यही सूर्य "प्रज्ञाचक्षु महाकवि सूरदास" था। वही सूरदास जिसे वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने "पुष्टिमार्ग का जहाज" कहा है। पुष्टिमार्ग के दूसरे प्रसिद्ध कवि नंददास का नाम भी हमारे साहित्य में अमर रहेगा, जिनके संबंध में यह कहावत प्रसिद्ध है—"और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया।"

पुष्टिमार्ग ने जहां कृष्ण-भक्ति को प्रशस्त किया वहां हिंदी साहित्य की भी पुष्टि की। श्री विट्ठलाचार्य ने इन्हीं पुष्टिमार्गी हिंदी-कवियों में से ८ प्रसिद्ध कवि चुनकर अष्टछाप की स्थापना की। इन आठ कवियों के नाम ये हैं:—

१. सूरदास
२. कृष्णदास
३. परमानंददास
४. कुंभनदास
५. चतुर्भुजदास

६. नंददास

७. गोविंदस्वामी

८. छीतस्वामी

इनमें से पहले ४ तो वल्लभाचार्य के शिष्य हैं और शेष चार उनके पुत्र विट्ठलनाथ के।

आगे इन कवियों का सविस्तर विवरण दिया जायेगा। सूर का नाम इनमें सर्वोपरि और महान् है, इसलिये सर्वप्रथम हम उन्हीं को लेंगे।

तृतीय अध्याय

★

(अष्टछाप)

सूरदास

(क)

जीवन-वृत्त

हिंदी-साहित्यगगन के सूर्य, वल्लभाचार्य के शिष्यों में प्रधान, सूरसागर के अमर रचयिता, कविपुंगव महात्मा सूरदास का जन्म संवत् १५४० वि० के लगभग माना जाता है। आगरे से मथुरा जाने वाली सड़क के किनारे रुनुकता नामक ग्राम इनकी जन्मभूमि है। कहते हैं इनकी मृत्यु पारसौली नामक ग्राम में संवत् १६२० में हुई। उनकी जाति के संबंध में किसी-किसी का कहना है कि वे जाति के भाट थे; और किसी-किसी का कथन है कि वे ब्राह्मण-वंशोद्भव थे। सूरदास अंधे थे, परंतु वे जन्मांध थे अथवा पीछे आकर अंधे हुए, इस संबंध में

कोई निश्चित मत स्थापित नहीं हो सका है। वस्तुतः हमारे ये महात्मा, संत लोग देश और जाति के लिये सब कुछ देकर साथ ही हमारे लिये एक आफ़त भी छोड़ जाया करते हैं। संसारभर की बातें तो ये बता जाते हैं, परंतु अपने संबंध में कुछ भी बताते मानों इनका मुंह दुखता है। हमारे दुर्भाग्य से सूर भी उन्हीं में से एक हैं। जन्म-मरण की तिथियां, स्थान, उनकी रचना तथा जीवन संबंधी अन्य अनेक विस्तृत घटनाओं का विवरण, सभी कुछ केवल अनुमानों, किंवदंतियों अथवा अनेक साधक-बाधक युक्तियों से परिपूर्ण तर्कों पर निर्भर है। उन तर्कों का परिणाम सर्वथा सत्य ही हो, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। अंतर और बाह्य साक्षियों में से प्रकाश ग्रहण करने का लालच बुरी बात नहीं, परंतु जिन अंतर्साक्षियों में से एक पक्ष कुछ अनुमान लगाकर कुछ निर्णय निकालता है, यदि उसी को दूसरा पक्ष प्रक्षिप्त की उपाधि प्रदान कर दे तो सब कुछ निरर्थक ही रह जाता है। ऐसी अवस्था में अंधकार में पड़ी अनेक बातों पर अनुमान के घोड़े दौड़ाकर हमने समय व्यर्थ नहीं करना है। शेष जो भी कुछ प्राप्त है उसी पर विचार करना समीचीन होगा। हां, तो सूर जन्मांध थे अथवा पीछे से अंधे हो गये, इस संबंध में क्या अनुमान ठीक रहेगा? सूर की प्राकृतिक स्वाभावोक्तियां और विशेषतया प्रकृति संबंधी चित्रण में जो सजीवता है उससे तो सूर जन्मांध सिद्ध हो नहीं सकते। प्रकृति का जीता-जागता चित्र उतारने में, अनेक रंगों का वर्णन करने में सूर ने जिस काव्य-मर्मज्ञता का परिचय

दिया है उससे तो उनकी जन्मांधता की सिद्धि व्यर्थ ही सिद्ध होती है। इस रूप में सूर जन्मांध कदापि नहीं। पीछे आकर वे अंधे हो गये थे। किंवदंती भी इसका समर्थन करती है। कहते हैं किसी समय सूरदास किसी युवती को देखकर चंचल हो उठे। पीछे लज्जित होने के कारण इन्होंने उस युवती से तकवे द्वारा आंखें फोड़ने के लिये कहा। देवी ने आंखें बींध दीं; सूर ने संसार के मायावी रूप से सदा के लिये आंखें बंद करलीं। इसी प्रकार उनके अंधे होने के संबंध में एक कथा और भी प्रचलित है। कहते हैं कि आठ वर्ष की आयु में सूर का उपनयन संस्कार हुआ और ठीक उसी के पीछे वे माता-पिता के साथ मथुरा-दर्शन को चले गये। घर लौटने की तैयारी के समय इन्होंने लौट चलने से इन्कार कर दिया। माता-पिता ने रोते हुए पूछा--"तुम्हें किसके आश्रय पर छोड़ें?" बालक सूरदास ने उत्तर दिया---"क्या श्रीकृष्ण का आश्रय साधारण बात है!" कहते हैं इसी समय एक साधु ने, जो इस घटना को देख रहा था, कहा: "मैं इस बालक को अपने साथ रक्खूंगा।" बस उसी समय से सूरदास मां-बाप से विच्युत होकर मथुरा में रहने लगे। कहा जाता है कि इसके बाद ही उनका कूप-पतन हुआ और श्रीकृष्ण ने उनका उद्धार किया। सूर को बाहर निकालकर कृष्ण चलने लगे। सूर ने उनका हाथ पकड़ लिया। लेकिन भगवान् हाथ छुड़ाकर चले ही गये। कहते हैं, सूर ने तभी प्रार्थना की थी कि जिन आंखों से तुम्हारा स्वरूप निहार चुका हूं उनसे और कुछ भी न देखूं! प्रभु ने भी उनके अंतर्नेत्र

विकसित करके भौतिक नेत्र सदैव के लिये बंद कर दिये। और तभी सूर ने उनसे यह कहा था—

"बांह छुड़ाये जात हो, निबल जानकें मोहि।
हिरदै सौं जब जाहिहौ, मरद बदौंगो तोहि॥"

"कृष्णकर्णामृत" में भी इसी आशय का एक संस्कृत श्लोक मिलता है—

"हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलाद्‌बंधो किमद्‌भुतम्।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥"

श्लोक सर्वथा पद के आशय से मिलता-जुलता ही है, परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि यह श्लोक सूरदास से पहले का रचा गया है अथवा पीछे का; हाँ, इतना स्पष्ट हो जाता है कि सूर जन्मांध नहीं थे।

सूरदास आगरे के निकट गौघाट पर रहा करते थे और भक्ति के पद बनाकर गाया करते थे। एक बार महाप्रभु वल्लभाचार्य जी घाट पर पधारे। सूरदास को उनके आने की खबर मिली। सूरदास आचार्य के पास जा पहुंचे। आचार्य ने कोई पद सुनाने की प्रेरणा की। सूर ने पद सुना दिया। आचार्य बोले—"सूर घिघियाते क्यों हो, कुछ भगवद्-लीला का वर्णन करो।" बस तभी से सूर ने उनसे पुष्टिमार्ग की दीक्षा ले ली और उनके शिष्य बन गये। फिर उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने भागवत दशम स्कंध की कृष्ण-लीला का बखान किया। इससे पूर्व सूर विनय के पद गाया करते थे। वल्लभाचार्य

से दीक्षा लेने के पश्चात् कृष्ण-बाल-लीला का वर्णन ही उनकी रचना का एकमात्र विषय बन गया।

एक बार मुगलसम्राट् अकबर उनके दर्शनों के लिये पधारे थे। कहते हैं, अकबर ने सूर से विनती की कि वे कुछ पद सम्राट् की प्रशस्ति में भी गायें, परंतु सूर ने सम्राट की यह प्रार्थना अस्वीकार कर दी।

सूर एक महात्मा, धर्मप्रचारक और हिन्दी के महान् कवि थे। किंवदंती है कि उन्होंने सवा लाख पदों की रचना की थी, परंतु वे सभी पद मिलते नहीं। जो भी कुछ मिलते हैं उन सबका संग्रह सूरसागर के नाम से प्रसिद्ध है। सागर के अतिरिक्त सूरसारावली और साहित्यलहरी भी उनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि सूरसागर की ही है। आलोचकों का कथन है कि सूरसारावली एक प्रकार से सूरसागर की अनुक्रमणिका है और साहित्यलहरी सूरसागर से निकली है। इस रूप में उनकी ख्याति का मूलाधार सूरसागर ही माना जाना चाहिये।

पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद वे श्रीनाथ जी के मंदिर में सेवा के लिये नियत किये गये। तब से वे बराबर गोवर्धन पर ही रहने लगे। मृत्यु के कुछ समय पूर्व ये पारसौली से चले गये थे। यहीं उन्होंने अंतिम लीला संवरण की। कहते हैं, अंतिम समय स्वामी विट्ठलाचार्य उनके पास थे और उनके अंतिम दिन, अंत समय तक धर्म-कर्म में ही बीतते रहे थे।

सूर-साहित्य

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में सूर-रचित १६ ग्रंथ माने हैं। उनका यह निर्णय नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट के आधार पर निर्भर है। संक्षेप से उनका विवरण नीचे दिया जाता है:—

१—गोवर्धनलीला बड़ी—इंद्र के कोप से बचाने के लिये कृष्ण ने सात दिनों तक गोवर्धन पर्वत को अपनी अंगुली पर उठाये रखा था। यही गोवर्धन-धारणलीला इस ग्रंथ में वर्णित है। इस ग्रंथ के पदों की संख्या ३०० है।

२ - दशम स्कंध टीका—इसमें भागवत की कथा वर्णित है और पद्यों की संख्या १६१३ है।

३—नागलीला- इसमें कालीदह का वर्णन है और ग्रंथ-रचना ४० पद्यों में समाप्त हो गई है।

४ - पद-संग्रह -इस ग्रंथ में धर्म, नीति तथा उपदेश संबंधी ४१७ पद हैं।

५—प्राण-प्यारी—इसमें श्याम-सगाई का गान हुआ है और ३९ पद्यों में पूर्ण हो गया है।

६—ब्याहलो—इस ग्रंथ में विवाह संबंधी २३ पद्य हैं।

७—भागवत—इसमें कृष्ण-कथा वर्णित है। यह प्रति खण्डित रूप में प्राप्त हुई है। पहले २५६ पृष्ठ गुम हैं। इसमें आगे का अंश दशम स्कंध की कथा से आरंभ होता है और

अंत में द्वादश स्कंध पर समाप्त हो जाता है। कुल पदों की संख्या ११२६ है।

८—सूरपचीसी—इसका विषय ज्ञानोपदेश है। पदों की संख्या २८ है।

९—सूरदास जी का पद—इसका कोई विशेष विवरण ज्ञात नहीं है।

१०—सूरसागर—इस ग्रंथ की अनेक हस्तलिपियां प्राप्त हुई हैं। इसमें श्री भागवत की कथा वर्णित है और पदों की संख्या २१००० है।

११—सूरसागर—इस ग्रंथ में ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का वर्णन है। ग्रंथ के आदि और अंत के पदों का आरंभ श्री रामचंद्र के नाम से हुआ है।

१२—एकादशीमाहात्म्य—इसमें वंदना, हरिश्चन्द्र तथा रोहिताश्व की प्रशंसा और कथा-वार्ता आदि का वर्णन है। ६३ पदों में ग्रंथ समाप्त हुआ है।

१३—रामजनम—इस ग्रंथ में राम-जन्म का वर्णन है। ग्रंथ-रचना ६४० पदों में संपन्न हुई है।

१४—साहित्यलहरी—इसकी रचना सूरसागर से पीछे हुई है। इसमें कुछ पद सूरसागर के भी सम्मिलित हैं—सूरसागर के भी वे पद जो पांडित्य-प्रदर्शन के उदाहरण कहे जा सकते हैं। इन्हें दृष्टकूट संबंधी पद कहा जाता है।

१५—सूरसारावली—इसे सूरसागर की विषयानुक्रमणिका

ही कहना चाहिये।

१६—नलदमयंती—यह ग्रंथ सूरदास का है या अन्य किसी दूसरे लेखक का, निर्णय नहीं हो पाया है यह डाक्टर मोती चंद के कथनानुसार यह ग्रंथ वास्तव में "नलदमन" नाम का सूफी प्रेमाख्यान है।

इस प्रकार कुल मिलाकर सूर के १६ ग्रंथ बताये जाते हैं। इनमें से सूरसागर ही पूर्ण-प्रमाणित सिद्ध होता है। अन्य ग्रंथों में कुछ तो अप्रमाणित हैं औ कुछ सूरसागर के ही अंश अथवा सूरसागर की कथास्तु के रूपांतर-मात्र।

सूर की सभी रचनाएं ब्रजभाषा में प्रस्तुत हुई हैं और सूर ही क्या, उनके परवर्ती शेष प्रायः सभी कृष्ण-भक्तों ने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है।

*

सूरसागर की अनेक प्रतिलिपियां प्राप्त हुई हैं। लखनऊ और बंबई से उसका प्रकाशन भी हुआ है। इन प्रकाशित तथा अप्रकाशित, सभी कापियों का आधार लेकर नागरी प्रचारिणी सभा ने भी संवत् १९९० वि० में प्रसिद्ध विद्वानों की तत्वावधानता में उसका प्रकाशन किया।

सूरदास जी संवत् १५८७ वि० में दीक्षित हुए। दीक्षित होने से पूर्व उनका घिघियाना प्रसिद्ध है। दीक्षित होने पर ही उन्होंने भागवत लीला का बखान आरंभ किया। इसलिये इस ग्रंथ का रचनारंभ संवत् १५८७ के पश्चात् ही मानना चाहिये। इस ग्रंथ का निर्माण किसी निश्चित तिथि पर हो गया होगा,

ऐसा नहीं माना जा सकता। इसके फुटकर पदों से ज्ञात होता है कि उनकी रचना समय-समय पर होती रही होगी और अंत में उनका संकलन कर लिया गया होगा। सूरसारावली के एक पद से ज्ञात होता है कि सूरसागर को उसका वह रूप उनके जीवन में ही प्राप्त हो गया था और उसमें एक लाख पदों का संग्रह था। पद इस प्रकार है—

कर्मभोग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरुतत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो॥
ता दिन मे हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंद।
ताको सार सूर सारावलि गावत परमानंद॥
तब बोले जगदीश जगतगुरु, सुनो सूर मम गाथ।
तू कृत मम यश जो गावैगो, सदा रहे मम साथ॥

इस पद से ज्ञात होता है कि सूरसारावली के समाप्त होने तक एक लाख पदों की रचना हो चुकी थी। इस प्रकार उनके इससे अतिरिक्त, आगे-पीछे के पदों की कुल संख्या का योग सवा लाख के लगभग अवश्य हो गया होगा।

शिवसिंह सेंगर ने अपने शिवसिंहसरोज में बताया है—"इनका बनाया सूरसागर ग्रंथ विख्यात है। हमने इनके पद साठ हजार तक देखे हैं।"

चौरासी वैष्णवों की वार्ता में भी इसी संबंध में एक लेख मिलता है—

"सूरदास ने सहस्त्रावधि पद कीये हैं, ताको सागर

कहिये, सो सब जगत में प्रसिद्ध भये।" इस उल्लेख में सवा लाख के स्थान पर केवल सहस्त्रावधि का ही उल्लेख है, जो कि हजारों के अर्थ में प्रयोग हुआ है और भाव में असंख्य रूप में ग्रहण हो सकता है। इस प्रकार 'सवा' लाख की किंवदंती की तो इससे पुष्टि नहीं हो पाती, परंतु इतना स्पष्ट है कि ये पद बड़ी भारी संख्या में रचे गये होंगे और संभव है कि यह सवा लाख पद भी "बहुसंख्या" का ही प्रतीक हो।

सूरसागर

सूरसागर महात्मा सूरदास की सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसमें उनके कवित्व की छाप है। सूरदास की रचना प्रबंध रूप से नहीं हुई बल्कि वह एक गीतिकाव्य है। भक्ति के आवेश में विह्वल होकर सूरदास जी मौखिक पद गाया करते थे: उन्हीं पदों का संग्रह सूरसागर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सूरसागर में श्रीमद्भागवत के क्रम का अनुसरण किया गया है। अधिक भाग उसके दशम स्कंध, जिसमें कृष्ण की ब्रजलीला वर्णित है, पर निर्भर है। सागर को श्रीमद्भागवत की अनुकृति-मात्र कहना उचित न होगा, क्योंकि सागर की "राधा" और उसकी "दानलीला" का भागवत में नाम भी नहीं आ पाया है। इस रूप में सूर पर जयदेव के गीतगोविंद का प्रभाव मानना पड़ेगा।

सूरसागर सचमुच एक अपूर्व ग्रंथ है। प्रेम, काव्यत्व और संगीत की यह त्रिवेणी अपने संगम पर रत्नगर्भसागर बन जाती है। भागवत के अनुसार सागर में भी १२ स्कंध हैं और

दशवें स्कंध को पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध नाम के दो भागों में विभाजित कर दिया गया है। सागर के स्कंधों का विस्तार सूर ने अपनी दृष्टि के अनुसार किया है। इन स्कंधों का साधारण परिचय इस प्रकार से है:—

प्रथम स्कंध—इसमें २१६ पद हैं। इनमें अधिकांश पदों का संबंध विनय से है। कथाभाग अनेक विषयों से संबंधित है, परंतु उसका कोई क्रम नहीं है। यह कथा नाम-वर्णन और संवाद रूप में है। संवाद के द्वारा ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की महत्ता प्रकट की गई है। इसमें तुलसी की तरह दास्यभाव अपनाया गया है। इस दास्यभावना की विशेषता के कारण ही लोगों ने इसका नाम सूर की विनयपत्रिका रख लिया है। श्री वियोगीहरि का कथन है कि इस स्कंध का कथाभाग सूरसागर की समाप्ति पर वृद्धावस्था में लिखा गया था, परंतु विनय के पद वे वल्लभाचार्य के शिष्य बनने के पूर्व ही लिख चुके थे। इन्हीं पदों को तो वल्लभाचार्य ने सूर का घिघियाना कहा होगा।

द्वितीय स्कंध—यह ३८ पदों का है। इसमें कुछ पद तो अत्यंत सरस भावपूर्ण हैं, परंतु अधिकांश भाग जो ज्ञान, भक्ति, ब्रह्मा तथा चौबीस अवतारों की उत्पत्ति के वर्णन से भरा है, उसमें काव्य की सरसता और भावापन्नता का अभाव हो गया है।

तृतीय स्कंध—इसमें १८ पद हैं। इस स्कंध में उद्धव-

विदुर-संवाद, कृष्ण का ज्ञानसंदेश, रुद्र-उत्पत्ति आदि का संक्षिप्त वर्णन है।

चतुर्थ स्कंध—यह १२ पदों में समाप्त हो गया है। इसमें शुक्रवचन, यज्ञपुरुष-अवतार, पार्वती-विवाह आदि की कथाएं हैं।

पंचम स्कंध—यह केवल ४ पदों का है। इसमें ऋषभदेव-अवतार और जड़भरत की कथाएं हैं।

षष्ठ स्कंध—इसमें भी केवल ४ पद हैं। इसमें अजामिल-उद्धार की कथा, इंद्र द्वारा बृहस्पति का अनादर, वृत्रासुर का वध, इंद्र का सिंहासनच्युत होकर फिर सिंहासन प्राप्त करना वर्णित हैं।

सप्तम स्कंध—यह ८ पदों में संपन्न हो गया है। इसमें नृसिंहावतार की कथा प्रधान है। शेष में 'शिव को भगवान की सहायता' और 'वाराह की उत्पत्ति' का वर्णन है।

अष्टम स्कंध—यह १४ पदों का है। इसमें गजमोचन, कूर्मावतार, समुद्रमंथन, मोहिनी-रूपधारण, वामन और मत्स्यावतार की कथाएं हैं।

नवम स्कंध—इसमें १७२ पद हैं। इन पदों में पुरुरवा नरेश का वैराग्य, च्यवन की गाथा, हलधर का विवाह, परशुरामावतार की कथा आदि का वर्णन है।

दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध—इसमें ३४६४ पद संगृहीत हैं। यह स्कंध सूरसागर का अथवा यों कहिये कि सूरदास का

सर्वस्व है। इस स्कंध की पद-संख्या शेष संपूर्ण स्कंधों की पद-संख्या से पांच गुणी है। इस स्कंध में कृष्ण-जन्म से लेकर मथुरा-गमन तक की कथा वर्णित है।

दशम स्कंध का उत्तरार्द्ध--इसमें १३८ पदों में कृष्ण-कथा का उत्तरार्द्ध रखा गया है।

दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध में कृष्ण का जन्म, मथुरा से गोकुल-गमन, पूतना आदि असुर शक्तियों का वध, नामकरण आदि संस्कार, घुटनों के बल चलना, चंद्र खिलौना मांगना, भोजन करना, माखन चोरी करना आदि लीलाएं वर्णित हैं। आगे राधा का संयोग हो जाता है। गोचारण, कालीदह, वस्त्र-हरण, मुरलीलीला, गोवर्धनलीला, दानलीला आदि के वर्णन इनसे आगे आते हैं। आगे चलकर रास, मान और झूला हैं।

दशम स्कंध की कथा को तीन भागों में बांटा जा सकता है। पहले भाग में कृष्ण की बाललीला है और उसमें वात्सल्य का आधिक्य है। दूसरे भाग में राधा-कृष्ण का मिलन हो जाता है। यहां पर शृंगार का केवल-मात्र संकेत ही किया जाता है। आगे इसी भाग में कृष्ण पूरे रसिक हैं और सारी कथा संयोग शृंगार से भर जाती है। वियोग भी है, परंतु आभास-मात्र। और तीसरे भाग में है गोपियों का विरह-वर्णन तथा भ्रमरगीत का बाहुल्य।

दशम स्कंध के उत्तरार्द्ध में राधा और कृष्ण के चरित्रों का विकास अवश्य हुआ है, परंतु काव्य की मौलिकता उसमें

अधिक नहीं आ पाई। इसी स्कंध पर सूर की सारी ख्याति प्रतिष्ठापित है। इसी स्कंध का वात्सल्य है जो सूर को अमर कर गया।

ग्यारहवां स्कंध—इसमें ६ पद हैं और
बारहवां स्कंध—इसमें ५ पद हैं।

सूरसागर में जो रामकथा आई है वह काव्यत्व की दृष्टि से बहुत ऊंची नहीं कही जा सकती। उसे केवल उसी प्रकार समझना चाहिये जिस प्रकार तुलसी की कृष्ण-गीतावली को।

सूर के दृष्टकूट पद भी प्रख्यात हैं, जिनकी क्लिष्टता का निराकरण काव्य के विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। काव्य की दृष्टि से इन कूटों की गणना निम्न श्रेणी में ही होगी।

सूर ने अपने सागर में शृंगार और वात्सल्य का जैसा निर्मल स्रोत बहाया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सूर अपने काव्य में सूक्ष्म भावों की तह तक पहुंचे हैं। उनके यहां जीवन का अकृत्रिम सरल रूप व्यंजित है। उनकी रचना में प्रवाह दर्शनीय है। सूरसागर का लेखक हिंदी का अनन्यतम कवि है। हमारे साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर उनकी टक्कर का दूसरा कवि कोई नहीं।

(ख)

सूरकाव्य का सैद्धांतिक आधार

चौरासी वैष्णवों की वार्ता में लिखा है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भागवत और सुबोधिनी टीकाएं सूरदास को समझाईं—"जो सूरदास को संपूर्ण सुबोधिनी स्फुरी। सो श्री आचार्य महाप्रभून ने जान्यो जो लीला को अभ्यास भयो ......" आदि। इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि कृष्ण के पूर्ण ब्रह्म होने का सिद्धांत सूरदास ने वल्लभाचार्य से लिया। इस पूर्ण ब्रह्मत्व के आधार से सूर के कृष्ण मूलरूप में निर्गुण हैं।

उनके एक पद से उनके सिद्धांतों का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जायेगा। पद यह है—

"सदा एक रस एक अखंडित, आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहि जानत, विहरत जुगल सरूप॥
सकल तत्त्व ब्रह्मांडदेव पुनि, माया सब विधि-काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सब है अंश गोपाल॥
कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ प्रभु तत्त्व सुनायो, लीला भेद बतायो॥"

"महाविष्णुस्वरूप श्रीकृष्ण अखंड (पूर्ण) ब्रह्म हैं। वे अनादि हैं, उपमारहित हैं, एकरस (सदा निर्विकार) तथा आनंदमय हैं। वे युगल रूप से विहार करते हैं। कोटि कल्प व्यतीत हो जाने पर भी वे इसका अनुभव नहीं कर सकते (उनके निकट काल की कोई गति नहीं है), वही पंचविंशति तत्त्व और ब्रह्मांडदेव हैं। काल और विधि आदि सभी माया हैं। प्रकृति, पुरुष, श्री (लक्ष्मी) और उनके पति नारायण सभी तो गोपाल (महाविष्णु) के अंश-मात्र हैं। कर्म, योग, ज्ञान उपासना ये सभी तो उस अर्थात् विष्णु से आच्छादित हैं।"—यही वह उपदेश है जिसके द्वारा वल्लभाचार्य ने सूरदास को वैष्णव-सिद्धांत तथा लीला-रहस्य का उपदेश दिया था।

इस पद से यह स्पष्ट है कि सूर के कृष्ण मूलरूप में निर्गुण थे, परंतु जनसाधारण के लिये अगम-अगोचर ब्रह्मरूप कृष्ण की रहस्यात्मकता तक पहुंच प्राप्त करना सर्वथा कठिन ही नहीं बल्कि असंभव भी था। इसीलिए सूर ने भक्ति के क्षेत्र में अपने काव्य में कृष्ण की सगुणता स्वीकार की है, परंतु फिर भी स्थान-स्थान पर उन्होंने अपने सगुण कृष्ण में निर्गुण कृष्ण का आभास दिया है। इस कथन की पुष्टि में यह पद प्रस्तुत किया जा सकता है—

"अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै॥
परम स्वाद सब ही जु निरंतर अमित तोष उपजावै।

मन वाणी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै ॥
रूप रेख गुण जाति जुगति बिनु निरालंब मन चकित धावै ॥
सब विधि अगम विचारहि तातें सूर सगुण लीला पद गावै ॥"

(प्रथम स्कंध, पद २)

निर्गुण ब्रह्म संसार को लीला दिखाने के लिये ही सगुण रूप धारण करते हैं, इसका उल्लेख नीचे के पद में किया गया है—

"वेद उपनिषद् यश कहैं निर्गुणहि बतावै।
सोई सगुण होई नंद की दांवरी बंधावै ॥"

(प्रथम स्कंध, पद ४)

वस्तुतः बात तो यह है कि सूर हमारे सामने धार्मिक गुरु के रूप में नहीं अपितु भक्त-कवि के रूप में आते हैं। सैद्धांतिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि दार्शनिक सिद्धांतों की व्याख्या भी उनका प्रमुख लक्ष्य नहीं था। उनके हृदय में तो अपने कृष्ण का लीलामय रूप समाया हुआ था। और फिर, उस समय की स्थिति भी ऐसी ही थी कि वल्लभाचार्य के प्रमुख शिष्य होते हुए भी किसी धार्मिक विवेचन की प्रमुख आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उनके धर्मगुरु वल्लभाचार्य और गुरुपुत्र विट्ठलाचार्य अभी जीवित थे। धार्मिक और दार्शनिक गुत्थियां सुलझाने का भार अभी उन्हीं पर था। इसीलिये उन्हें किसी धार्मिक अथवा दार्शनिक पद्धति में पैर फंसाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। फिर वे इस योग्य थे भी तो नहीं। 'चौरासीवार्ता"

से ज्ञात होता है कि सूरदास को संस्कृत का ज्ञान भी बहुत कम ही था। भागवत की कथा भी तो उन्होंने स्वयं ग्रंथ से नहीं पढ़ी थी; यह ज्ञान तो उन्हें गुरुप्रताप से ही प्राप्त हुआ था। पुष्टिमार्ग के धार्मिक सिद्धांत भी उन्होंने गुरुमुख से ही सुने थे--

"मायाकाल कछू नहिं व्यापै,
यह रस रीति जु जानी।
सूरदास यह सकल समग्री,
गुरु प्रताप पहिचानी॥"

(प्रथम स्कंध, पद २१७)

पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों का अध्ययन महाप्रभु के निम्नलिखित तीन ग्रंथों से किया जा सकता है—

१—बृहत्त्रयी का अनुभाष्य।
२—भागवत की सुबोधिनी टीका।
३—षोडश ग्रंथ।

इन्हीं तीन ग्रंथों के द्वारा उन्होंने अपने मत की पुष्टि में प्रमाण दिये हैं। संप्रदाय के सत्संगों और बैठकों में बैठ-बैठकर उन्होंने उपरोक्त ग्रंथों के उपदेश सुने होंगे, और इन्हीं को अपनी रचना में सैद्धांतिक भित्ति के रूप में जमा लिया होगा, परंतु फिर भी भूल नहीं जाना चाहिये कि सूर ने वल्लभाचार्य के सिद्धांतों का पूर्ण रूप से रक्षण करने का भार नहीं उठाया था। उन्होंने तो उन सिद्धांतों को मौलिक रूप से केवल मात्र स्पष्ट ही किया है। महाप्रभु के सिद्धांतों की कोई सूक्ष्म

विवेचना उन्होंने नहीं की। हां, सिद्धांतों का पालन अवश्य किया है।

महाप्रभु के सिद्धांतों के अनुसार सूर के कृष्ण परब्रह्म हैं, साधारणतया कृष्ण जी भगवान् विष्णु के अवतार हैं और विष्णु त्रिदेवों में से एक हैं, परंतु पुष्टिमार्गियों के कृष्ण त्रिदेवों--ब्रह्मा, विष्णु और महादेव--इन तीनों ही से बड़े हैं। ये ही तो सूर के यहां "एकपुरुष" हैं। इन्हीं को उन्होंने नारायण भी कहा है। संसार का सृजन, पोषण और संहार वे ही तो करते हैं। वे ही सृष्टि का उपादान-कारण हैं। वे सच्चिदानंद हैं। जीव और प्रकृति भी उन्हीं से संभूत है। जीव की सत् और चेतना शक्ति भी उन्हीं से प्राप्त है। हां, आनंदतत्व तिरोभूत है। इसी प्रकार प्रकृति में सत् अपना गुण है और चेतना तथा आनंद के विशेषण तिरोभूत रहते हैं। इस प्रकार सत्-चित-आनंद-स्वरूप ब्रह्म से सत्-चित् आत्मा का और सत् रूप प्रकृति का जन्म हुआ। बस यही निर्गुणात्मक ब्रह्म (कृष्ण) अपने गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से इस विश्व में उत्पन्न हुआ, परंतु जनसाधारण के लिये महाप्रभु ने कृष्ण के गोलोक की विस्तार-पूर्वक कल्पना की। कृष्ण अपनी राधा के साथ गोलोक में विहरते हैं और भक्त-आत्माएं सर्वदा उनके साथ रहती हैं। भक्तों को आनंद देने तथा अपनी लीला का प्रदर्शन करने के लिये वे अवतार लेते हैं। यही गोलोक उनकी क्रीडास्थली बन जाने से "गोलोक" हो जाता है।

उनके भक्त ही नंद और यशोदा बन जाते हैं और वे ही गोपी ग्वाल का रूप धारण कर लेते हैं। इसे ही हम महाप्रभु के दार्शनिक सिद्धांतों का धार्मिक पक्ष कह सकते हैं।

ब्रह्म की निकटता की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन "पुष्टि" माना गया है। पुष्टि क्या है?—भगवान् का अनुग्रह। यह अनुग्रह ही भगवान् के अनुग्रह का मुहताज है। बस यही आचार्य वल्लभ का पुष्टिमार्ग है। आचार्य का कथन था कि जनसाधारण के लिये मर्यादा-मार्ग का साधन सुगम नहीं। सर्वसाधारण के लिये पुष्टिमार्ग की अवतारणा की गई थी। पुष्टिमार्ग को उन्होंने मर्यादा-मार्ग से ऊंचा माना है। उनका कथन है कि ज्ञान और योग द्वारा जिस मुक्ति की प्राप्ति होती है वह तो पुष्टि से—अनुग्रह से मिलने वाली मुक्ति से नीची श्रेणी की है, इसलिये भक्त को भक्ति और आत्मसमर्पण द्वारा भगवान् के अनुग्रह की प्रतीक्षा करनी चाहिये। अनुग्रहप्राप्त मुक्त-आत्मा को परमात्मा (कृष्ण) के साथ गोलोक-विहार प्राप्त होता है। इस भक्ति और आत्म-समर्पण में किसी प्रकार का जातिबंधन का विचार व्यर्थ है। कोई भी आत्मा अपने पवित्र उद्योग से पुष्टि-पथ पर चलकर गोलोक-विहारी कृष्ण के साथ विहार प्राप्त कर सकती है। उसमें तो स्त्री को भी पुरुष के समान ही अधिकार प्राप्त है।

इस पुष्टि की प्राप्ति के लिये घिघियाने की आवश्यकता नहीं है, परंतु फिर भी गोलोक-विहार में सख्यभाव की प्राप्ति

के लिये पुष्टिमार्गी भक्त की भक्ति भी सख्यभाव से युक्त होनी चाहिये। वही सख्यभाव सूर के पदों में व्यापक है। फिर भी इतना तो निश्चय से कहा जा सकता है कि पुष्टिमार्ग की दीक्षा ले चुकने पर भी सूर की दैन्य भावना और विनम्रता लुप्त नहीं हो गई—वह उनके पदों में बराबर बनी रही।

पुष्टिमार्ग ने भक्ति का मार्ग इतना सुलभ कर दिया कि उसके सामने भगवत्प्राप्ति के अन्य सभी साधन व्यर्थ से दीख पड़ने लगे। वहां कष्टसाध्य भक्ति की आवश्यकता नहीं रह गई। कठिन साधना—योग, हठयोग, यज्ञपूजन की कोई आवश्यकता नहीं थी। सूरसागर में भक्ति के सभी प्रकारों का उल्लेख है। पुष्टिमार्ग में दास्यभक्ति वर्जित होते हुए भी सूरसागर के विनय संबंधी पदों में वह अपना एक स्थान रखती है। मुरली-स्तुति में वही दास्यभावना तो है। रूपासक्ति भक्ति के स्वरूप में साधारणतया वही भावना है ही। कृष्ण का रूप बखानते सूर थकते नहीं। दानलीला में यह रूपासक्ति स्पष्ट है। नंद यशोदा के वात्सल्य में वात्सल्यासक्ति की भक्ति का रूप है। गोचारण-वर्णन में ग्वालों की कृष्ण के प्रति प्रीति में सख्य-भक्ति का रूप है। गोवर्धन के प्रसंग में पूजासक्ति है। भ्रमरगीत के द्वारा गुणमाहात्म्यासक्ति का उदाहरण मिलता है। और इन सबसे बढ़कर रही कांतासक्ति की भक्ति-भावना। रस पक्ष में इसी कांतासक्ति को श्रृंगार कहा जाता है। सूरसागर में गोपियां कृष्ण की परकीया नायिका के भाव में प्रस्तुत हुई

है। रसिकों का भी ऐसा ही मत रहा है कि स्वकीया के प्रेम में वह तीव्रता और आकर्षण कहां है जो परकीया में मिलता है।

अब ऐसी सरल पद्धति को प्राप्त करके भक्ति के अन्य किसी जटिल मार्ग में टक्कर मारने कौन जाता। इसी माधुर्य-भक्ति ने मर्यादा-प्रमुख राम-भक्ति को भी न पनपने दिया। इस कृष्ण-भक्ति के सामने जहां मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम की भक्ति असमर्थ हुई वहां ही निर्गुणियों के प्रेममार्ग और ज्ञानमार्ग भी फीके ही तो पड़ गये। भक्तिमार्ग में इस कृष्ण-भक्ति ने अनेक मनचले रसिकों को भी एक बार अपनी झांकी से चौंधिया ही दिया। निःसंदेह इसी रसिकता ने हमारे साहित्य को नंददास की देन दी; मीरा दी; रसखान, घनानंद और पद्माकर प्रदान किये; परंतु भारतीय मर्यादा की डगमगाती नैय्या को कोई तुलसी-सा खेवैया कहां दिया।

कृष्णकाव्य में पुष्टिमार्ग की इस मधुर शृंगार-धारा ने रसिक भक्तों को भले ही सब कुछ दिया हो, परंतु भारतीय चारित्र्य सत्ता को तो कोई बल दिया नहीं। कृष्णकाव्यकारों के द्वारा भारतीय नारी की सम्मान-महत्ता को जो ठेस लगी वह हमारे साहित्य, धर्म और नैतिक बल के लिए शोभकारी सिद्ध न हो सकी। हमारा विश्वास है, यदि कृष्ण-भक्ति में इस शृंगारभावना की प्रबलता न हो पाती तो हमारे यहां स्वकीया और परकीया नायिकाओं के भेदोपभेदों के ऊपर जो बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे गये, वे न लिखे जाते। शायद हमारे साहित्य के इतिहास

में इस भक्ति-साहित्य के निर्माण के पश्चात् रीति ग्रंथों के प्रणयन की बारी ही न आती। वल्लभाचार्य की पुष्टि और सूर की उत्कट कांतासक्ति ने ही भक्ति के क्षेत्र में नायिकाभेद का बीजारोपण किया। प्रत्यक्ष न होकर यह बात परोक्ष रूप में ही रही, परंतु इतना तो स्पष्ट ही है कि हमारे शृंगार अथवा रीतिकाल की भित्ति का मार्ग-निर्माण सूर-साहित्य के द्वारा ही हुआ। उनके भ्रमरगीतों में योग और साधना पर चोटें करने का प्रयोजन सिवाय रूपासक्ति-प्रसार के और कुछ नहीं प्रतीत होता। इसी रूपासक्ति ने परकीया नायिका के प्रेम में सौंदर्य-भावना की उत्तेजना उत्पन्न की जिसने नारीधर्म की मर्यादा को जड़ से उखाड़ ही दिया। समस्त सूरसागर इस बात का साक्षी है कि सूर की इस सख्य-भक्ति का स्थान भगवान् से भी बढ़-चढ़ गया था—

प्रीति के वश्य में हैं मुरारी।
प्रीति के वश्य नटवर वेष धार्यो प्रीतिवशकरज गिरिराजधारी॥

फिर भगवान् का यह अनुग्रह भी बड़ा अद्भुत रहा। पुष्टिमार्ग की भक्ति की कल्पना एक अनूठो ही रंग धारण कर गई।

सूर के मत में भक्ति का स्थान योग और वैराग्य, दोनों से ऊंचा है। सूर की मुक्ति-कल्पना भी शुद्धाद्वैतवादियों की मुक्ति-कल्पना के समान ही है। सायुज्य मुक्ति उनके लिये इच्छित नहीं। उनके यहां तो सान्निध्य मुक्ति की चाह है, जिसके

द्वारा मुक्त होने के अनंतर भी गोलोक में भगवान् का संग प्राप्त रहेगा और लीला में भाग लेने की सुविधा भी प्राप्त रहेगी।

सूर-साहित्य में राधा की "दार्शनिक कल्पना" सूर की अपनी मौलिकता है। उन्होंने राधा को ब्रह्म की आह्लाददायिनी चित्-शक्ति माना है और विद्यापति से प्रभावित होकर कृष्ण की प्रेयसी के रूप में दिखाकर ब्रह्म की शक्ति का रूप दे दिया है। इसी युगलमूर्ति की सगुण गुणगाथा का गान उनके यहां मुक्ति का द्वार बताया गया है।

निर्गुणियों की माया यहां भी व्यापक रही है। ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण है और माया त्रिगुणात्मक है। तीनों गुणों द्वारा वह सृष्टि का निर्माण करती है और विश्व की प्रत्येक क्रिया पर उसका अनुशासन है, परंतु यह सब वह करती है भगवान् की इच्छा से ही, उसकी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं। यदि यह संसार माया के वश में है, तो माया ब्रह्म के वश में है। सूर के अनुसार माया की अपनी कोई सत्ता नहीं, वह तो ब्रह्म का ही अंशमात्र है। सृष्टि के आदि में ब्रह्म से ही जन्म लेकर वह प्रलयकाल में ब्रह्म में ही लीन हो जाती है। वस्तुतः माया और कुछ नहीं, वह तो ब्रह्म की ही एक अभिव्यक्तिमात्र है।

संक्षिप्त रूप से यही तो सूरकाव्य का संक्षिप्त सैद्धांतिक विवेचन है।

(ग)

सूर-साहित्य का गौरव,

उनका

मातृ-प्रेम—वात्सल्यवर्णना,

शृङ्गार—भ्रमरगीत—दृष्टकूट पद

सूर का मातृ-प्रेम—वात्सल्य-दर्शना

सूर की वात्सल्य-वर्णना हमारे साहित्य की अमूल्य निधि है। हिंदी साहित्य में ही क्या, संभवतया संपूर्ण भारतीय साहित्य में भी उनके जोड़ का वात्सल्य का चतुर चितेरा नहीं मिल सकेगा। उनका अकेला वात्सल्य-वर्णन ही उनके यश को अमर रखने के लिये पर्याप्त है। इसीलिये तो उन्हें वात्सल्य-रसावतार कहा जाता है। सूर ने इस रस को कुछ ऐसा अपना लिया है कि वात्सल्य का नाम लेते ही सूर का भान हो आता है

और सूर का नाम लेते ही बाल-कृष्ण की मूर्ति आंखों के आगे नाचती हुई प्रतीत होने लगती है। बस यही तो सूर और वात्सल्य का अन्योन्याश्रय संबंध है। भौतिक नेत्र देने के बदले उस अंधे संत को ज्ञानचक्षु तो मिले ही, साथ ही माता के उदार हृदय की कोमलानुभूति भी प्राप्त हो गई। उस वैरागी महात्मा के बाल-वर्णन में जो स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता और मार्मिकता आ पाई है वह किसी गोद-भरी मां को भी कहां मिल सकेगी। इसी पर तो किसी ने कह डाला था—"तत्व-तत्व सूरा कही।" बालस्वभाव की कौनसी चेष्टा है जिसका वर्णन सूर के पदों में न हुआ हो। जन्म-दिन से लेकर कुमारावस्था के मध्य तक की एक-एक घड़ी सूर के पदों में अपने मुह बोल पड़ी है।

कृष्ण का कोमल स्वरूप अभी पालने में विकस रहा है। देख-देखकर मां का हृदय फूला नहीं समाता। वही उसकी अपार आशाओं का पुंज है। मां की मनोभिलाषाओं में उसका पावन हृदय झांक उठा है। कितनी उत्सुकता है मां के मन में—

"जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै कब धरनी पग द्वै धरै।
कब नंदहिं कहि बाबा बोलै, कब जननी कहि मोहि ररै।
कब मेरो अंचरा गहि मोहन, जोइ-सोइ कहि मोसों झगरै॥"

मां की मनोकामना सफलीभूत हुई। कन्हैया दो-दो

पग चलने भी लगे। मां, भाई और बाबा को पुकारने भी लग पड़े। मां का हृदय इस दृश्य में रम-रमकर रह गया—

"कान्ह चलत पग द्वै-द्वै धरनी।
बैठि जात पुनि उठत तुरत ही सो छवि जाय न बरनी।"

तथा

"कहन लगे मोहन मैया-मैया।
पिता नंद सों बाबा-बाबा, अरु हलधर सों भैया॥
मनि खंभन प्रतिबिंब विलोकत नचत कुंवर निज पैया।
नंद जसोदा जू के डर से यह छवि अनत न जैया॥"

बाल कन्हाई दिन-दिन बढ़ने लगे और साथ ही उनका बालहठ भी विकसित होने लगा। मां का हृदय अपने लाल को दो ही दिन में स्वस्थ कुमारावस्था में देखने का इच्छुक है। बच्चा शीघ्र ही बड़ा हो। कितना अच्छा होगा वह दिन जिस दिन कन्हाई बड़ा होगा। परंतु, वह दूध पिये तब न! मां ने लालच दिया—बेटा, दूध पिओगे तो चोटी बड़ी हो जायेगी। भोले ने विश्वास में दूध पी लिया। एक हाथ में दूध का कटोरा था, दूसरे में चोटी। दूध सारा पिया गया, परंतु चोटी बाल-भर भी न बढ़ी। एक नहीं, अनेक बार यही नाट्य होता है। एक दिन खिज ही पड़े आखिर। बोले—

"मैया, कबहि बढ़ैगी चोटी,
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहत बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।

काचो दूध पियावत पचि-पचि देत न माखन रोटी ॥"

सूर केवल बच्चों की रूठान से ही परिचित हों, यह बात नहीं। दुलारे को बहकाकर बहलाया कैसे जायेगा, यह भी उन्हें अच्छी तरह ज्ञात है। मां ने तुरंत कह दिया—"बेटा, चोटी बढ़ाने के लिये काली का दूध पियो न; तुमने कोई काली का दूध थोड़ा ही पिया है, अभी तो तुम धौली का ही दूध पीते रहे हो। बेटा—

"कजरी का पय पियहु लाल तब चोटी बाढ़ै।"

ये लाड़ले बच्चे अपनी जिद के कितने अड़ियल होते हैं। सूर का बाल-कृष्ण भी जिद कर बैठा; उसे चांद चाहिये खेलने के लिये—

"मैया, मैं तो चंद खिलौना लैहों।
जैहों लोट धरनि पर अबही, तेरी गोद न ऐहों॥
सुरभी को पय पान न करिहों, बेनी सिर न गुहैहों।
ह्वै हौं पूत नंद बाबा को, तेरो सुत न कहैहों॥"

अड़ तो भारी थी, परंतु माता ने चतुराई से समझा ही लिया। कितना सुंदर उपाय निकाल लिया; बोलीं—

"आगे आऊ बात सुनु मोरी, बलदाऊ महु न जनैहों।
हंसि समुझावति कहति जसोदा, नई दुलहिया ब्यैहों॥
तेरी सौं मेरी सुनि मैया, अबहि बियाहन जैहों।
सूरदास ह्वै कुटिल बराती, गीत सुमंगल गैहों॥"

कन्हैया, बड़े भैया बलदाऊ के साथ खेलने के लिये बच्चों में चले जाते हैं। कभी हंसी में दाऊ ने कुछ कह दिया। बस माता के दर्बार में अभियोग लगाकर न्याय का प्रार्थना-पत्र पेश कर दिया गया।—देख न मेरी भोली मां, दाऊ बड़ा शैतान है। मुझे स्वयं भी खिजाता है और साथियों से भी मुझे अपमानित कराता है। तू भी तो उसे कुछ नहीं कहती। कहे भी क्यों! छोटा समझकर मुझे ही मार लेती है। पिटना-छितना सब मेरे ही तो भाग्य में है न!—

"मैया, मोहि दाऊ बहुत खिजायो।
मो सों कहतु मोल को लीनों, तोहि जसुमति कब जायो॥
कहा कहौं इस रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहतु कौन तुव माता, कौन तिहारो तात॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हंसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर॥
तू मोही को मारन सीखी, दाउहि कबहु न खीजैं।
मोहन को मुख रिस समेत लखि, जसुमति अति मन रीझै॥"

अभियोग बड़ा संगीन था और करुणाभरे स्वर में न्याय की प्रार्थना की गई थी। मां ने लाड़ले को गोद में बिठा लिया, मुख चूमा और न्यायाज्ञा सुना डाली—

"सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं जननी तू पूत॥"

सूर, तुम्हें भी मां का सुलभ हृदय मिला होगा!—

"मोहे गोधन की मौं, हौं जननी तू पूत"--किन मार्मिक शब्दों से श्रोता की हृत्तंत्री को झंकृत कर दिया तुमने। "गोधन की सौं, मैं मां हूँ—तू पुत्र है बच्चे!"—इन्हीं दो शब्दों में वात्सल्य साकार हो उठा है।

चस्का बुरा! मां कहती है—बेटा कन्हैया, दूध पी! बेटा मांगता है माखन-रोटी। घर में मक्खन, ब्रजभर में मक्खन, पर कृष्ण के भाग्य में थोड़ा-सा भी नहीं। मक्खन जैसी वस्तु का चुराना कोई बुरा थोड़ा ही है। कोई शराब तो नहीं कि चोरी से पीने पर बदनामी का भय हो। दल-बल सहित चोरी को निकल पड़े। चोरी में सौजन्य कैसा। मक्खन स्वयं खाया, कुछ बच्चों को खिलाया; बर्तन फोड़े, दूध दही इधर-उधर बिखरा छोड़ा। सोये पड़े बच्चों को छेड़कर जगा दिया और अवसर मिला तो बछड़ों को भी खोलकर भगा दिया—

"गोरस खाइ खवावै लरिकनि, भाजत भाजन भानि।
बड़ो माट इक बहुत दिनन को, ताहि कियो दस टूक॥
माखन खात, दूध लै डारत, लेपत देह दही।
ता पाछें घरहू के लरिकनि, भाजति छिरकि मही॥
चोर, अधिक चतुराई सीखी, जाइ न कथा कही।
तापर सूर बछुरुवनि ढीलत, बन-बन फिरति बही॥"

एक-दो दिन की बात हो तो सहा भी जाये, आये दिन की चोरियों ने गोपियों को तंग कर दिया। बेचारी शिकायत

लेकर नंदरानी के दर्बार में उपस्थित हो गईं। पर पांच-साल साल का बच्चा, क्या उसमें चोरी करने का हौसला हो सकता है! फिर अपने ही घर में क्या कोई कमी है किसी वस्तु की! कन्हैया और चोरी! मां को विश्वास नहीं आया—

"मेरे गोपाल तनिक सों, कहा करि जानैं दधि की चोरी।
हाथ नचावति आवति ग्वालिनी, जो कह कह करै सो थोरी॥
कब छींके चढ़ि माखन खायो, कब दधि मटुकी तोरी।
अंगुरिन करि कबहूं नहिं चाखत, घर ही भरी कमोरी॥"

एक बार—दो बार—चार बार सही, परंतु ये उल्हाने तो प्रतिदिन की बात बन गये। आखिर क्रोध आ ही गया मां को। धमकाकर पूछा—कन्हैया, सत्य बोलो बेटा, बात क्या है? बच्चा बोल उठा—भोली-भाली

"मैया मेरी, मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायो॥
देखि तुही, छींके पर भाजन, ऊंचे धर लटकायो।
तुही निरखि नान्हे कर अपने, मैं कैसे दधि पायो॥"

और देखिये चतुराई—

"मुख दधि पोंछि, कहत नंद-नंदन, दौना पीठि दुरायो।"

चातुर्य की वाणी ने यशोदा का क्रोध ढीला कर दिया। मां का हृदय करुणार्द्र हो उठा। गोपियां भी भोले की वाक्-चातुरी पर आंखें भर लाईं। तभी तुरंत—

"डारि सांटि, मुसकाय तबै गहि सुत को कंठ लगायो॥"

पर बात इतने पर ही तो समाप्त नहीं हो गई। चोर चोरी से गया तो क्या हेरा-फेरी से भी गया! आदत छूट ही न सकी। आखिर एक दिन ऐन मौके पर पकड़े ही गये। गोपियों ने समझ लिया था कि आज कन्हैया को कोई भी बहाना नहीं मिल सकेगा। बोलीं—

"स्याम कहा चाहत से डोलत।
पूछे से तुम बदन दुरावत, सूधे बोल न बोलत॥
सूने निपट अंधियारे मंदिर, दधि भाजन में हाथ।
अब कहि कहा बने हो ऊतर, कोऊ नाहिन साथ॥"

स्याम कुछेक क्षणों के लिये सकपका गये, परंतु तुरंत ही सूर का काव्यत्व उनकी वाणी पर बोल उठा—

"मैं जान्यौ यह घर अपनो है, या धोखे में आयो।
देखत हौं गोरस में चींटी, काढ़न को कर नायो॥"

आखिर एक दिन मां का क्रोध सीमा को लांघ उठा—पकड़ा और दोनों हाथ यमलार्जुन वृक्ष से बांध दिये। नन्हें हाथों में रस्सी का यह कठोर बंधन!—सभी ने उलाहना दिया। स्वयं गोपियों ने इस कठोरता पर यशोदा को बहुत भला-बुरा कहा। इतने में दाऊ भी किसी खोरी से लौट कर आ पहुंचे। दादा को देखते ही अनुज की आंखें बह निकलीं, हिलक-हिलक कर रोने लगे। बल भैया ने कन्हैया को गले लगा लिया। मां के डर से बन्धन तो नहीं खोल सके, परंतु आंखें उनकी भी भर आईं। कह उठे—

"मैं बरज्यो कै बार कन्हाई,
भली करी दोउ हाथ बधाये।"

फिर मां के चरणों पर गिरकर हा-हा खाकर कहने लगे लगे—

"स्यामहिं छोड़ि, मोहि बरु बाँधै।"

मेरी कठोर मां, न बांध नन्हे भाई को तू। कितना कठोर है तेरा जी जो तनिक से अपराध पर इतना कष्ट दे रही है। कहते हैं, इतने में यमलार्जुन गिर पड़े और कृष्ण बंधन-मुक्त हो गये। बताते हैं, आज यमलार्जुन के अभिशाप की अवधि समाप्त हो गई थी, परंतु हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि वात्सल्यातिरेक से करुणा के गीलेपन ने यमलार्जुन की जड़ को गीला कर दिया था; अर्द्रातिरेक से जड़ें हिलीं और उखड़ गयीं; कृष्ण बंधन-मुक्त हो गये।

बाल-लीला और माखनचोर-लीला ही नहीं, वात्सल्य को उमड़ाने वाले चित्र सूर ने और भी अनेक प्रस्तुत किये हैं। बच्चा चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो जाये, परंतु मां के लिये तो फिर भी वह बच्चा ही है।

कंस के बुलावे पर दोनों लाडले अक्रूर के साथ मथुरा गमन के लिये तैयार हो रहे हैं—उन्हें जाने का चाव चढ़ा है, पर इस प्रवास का प्रभाव माता के हृदय से पूछो! वह करुण स्वर से पुकार उठती है—अरे कोई रोको मेरे बच्चों को मथुरा जाने से।

"अरु ए गोधन हरौ कंस सब, मोहि बंदि लै मेलौ।
इतनौ ही सुख कमल नैन मो, अंखियन आगे खेलौ॥"

पर इस विपदा में कोई भी सगा न निकला, लाल चले ही गये। जाते-जाते हिचकी-बंधी वाणी से शीघ्र लौट आने को आग्रह कर दिया।

चले गये और गये भी बहुत से दिन व्यतीत हो गये। राह चलते राहगीरों के हाथों संदेश जाने आरंभ हो गये—

"सूर पथिक! सुनि मोहि रैनि-दिन बड़ो रहतु जिय सोच।
मेरो अलक लड़ैतो लालन ह्वै है करत संकोच॥"

पर फिर भी न आये लाड़ले। बड़े तानेभरे शब्दों में आने की अपील की—

"वह नातो नहिं मानत मोहन, मनो तुम्हारी धाय।"

लो न सही, मां न मानो कोई बात नहीं, मुझे धाय समझकर ही एक बार दर्शन दे जाओ मेरे लाल!

सूर के इन करुणभरे शब्दों में मां के हृदय का वात्सल्य छलका पड़ रहा है।

कहते हैं सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कन्हैया दल-बल से कुरुक्षेत्र पहुंचे और उधर से गोप-गोपियों सहित नंद और यशोदा भी। भेंट हुई; कृष्ण-बलराम ने माता-पिता के चरण छुए। प्रेमाधिक्य से माता की तो वाणी ही रुक गई—असीस देते ही न बना; मूर्छित होकर गिर पड़ी। कन्हैया लिपट-लिपट कर रोने लगे। बोले—

"तेरी यह जीवन-मूरि, मिलहि किन माई ?
महाराज जदुनाथ कहावत तेरो तो वह कुंवर कन्हाई ॥"

कन्हैया ने कहा—मां, मैं यादवों का नाथ तो हूँ, परंतु तेरा "कुंवर कन्हैया" ही हूं। और सूर ने कहा—

"रोम पुलकि, गदगद सब तेहि छिन,
जलधारा नैननि बरसाई।"

इस जलधारा में खारापन थोड़ा ही था। यही तो मातृप्रेम था। इसी प्रेम-समुद्र का मंथन करके तो सूर ने अमृत-तुल्य वात्सल्य रत्न हमारे साहित्य को प्रदान किया था। वात्सल्य की सभी अवस्थाओं का जैसा सजीव वर्णन सूरदास ने किया है, वैसा भारतीय साहित्य में अन्यत्र तो दुर्लभ ही है।

"सूर सूर तुलसी ससि" वाली उक्ति का आधार वास्तव में उनकी मातृप्रेम-वर्णना ही थी। हमारे साहित्य में सूर के परवर्ती कवियों ने भी वात्सल्य का सुंदर चित्रण किया है, परंतु वहां सब कुछ सूर की जूठन-सी ही प्रतीत होती है। तभी तो आलोचकों ने कहा है—"सूर ही वात्सल्य है और वात्सल्य ही सूर है।" इसी सत्य से प्रभावित होकर तो प्रसिद्ध संगीताचार्य तानसेन ने कहा था—

"किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, तन मन धुनत सरीर ॥"

सूर का शृंगार

सूर की ख्याति की दूसरी वस्तु है इनकी शृंगार-वर्णना। उनके यहां वात्सल्य तो अनुपमेय रहा ही है, शृंगार भी अपने ढंग का और उच्चकोटि का ही बन पड़ा है। शृंगार के भेद हैं—संयोग और विप्रलंभ। जायसी की नागमती का विरह-वर्णन हिंदी साहित्य में विप्रलंभ शृंगार का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। उसको छोड़कर सूर शृंगार के सर्वोच्च कवि कहे जा सकते हैं। शृंगार की वह कौनसी अवस्था है जो सूर से अछूती रह गई हो। सूर की रसिकता तो सर्वविदित है ही। वे जिस रस में कभी भीग चुके थे उसकी अनुभूति उनसे विलग हो भी कैसे सकती थी। वस्तुतः प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति के लिये प्रबंध की अपेक्षा गीति-पद्धति कहीं अधिक प्रभावजनक होती है; और सूर के गीत तो मानों उनकी रसिकता से और भी सरस हो जाते हैं। विषय की तल्लीनता कवि की सफलता के लिये परम सहायक वस्तु है। इसी तल्लीनता की अनुभूति के लिये सूर उन भौतिक नेत्रों का परित्याग करके साधना-लीन हुए थे। यदि इस साधना के फलस्वरूप उन्हें अपने कृष्ण का मनमोहक, लुभावना चित्र अपनी अलौकिक झांकी से चमत्कृत कर भी गया तो अचरज की बात ही क्या! कृष्ण के चरित्र में इस शृंगारिकता ने कोई विशेषता उत्पन्न की हो यह तो हम नहीं मान सकते। महाभारत का वह नीतिकार—उपदेष्टा मुगलकाल

का मन-ललचावक नायक बनकर ही रह गया। भले ही भक्तों ने अपनी मानसिक तल्लीनता के लिये कृष्ण को इस रूप में सज्जित किया होगा; भले ही तत्कालीन आचार्यों ने निराशित जनता को उस समय धीरज बंधाने के लिये इस कल्पना को एक अकाट्य युक्ति के रूप में स्वीकार किया होगा, परंतु यह मनवाने का दावा नहीं किया जा सकता कि कृष्ण की राधा, उसकी अन्य गोपियां, मुरली-माधुरी तथा लीला-क्रीड़ाएं समाज की युवतियों के सम्मान को सुरक्षित रख सकने में समर्थ हो सकीं। अस्तु! कुछ भी सही, गुरुडमवाद की गोद में पली इस रसिक भक्ति में अनेक रसिया-छैला गोता लगाकर निकले। सूर के अपने ही जीवन में तो नगर-नारियों ने श्रीनाथ जी के मंदिर में आचार्य महाप्रभु के संग रास रचाये थे। आज ही नहीं, यह बात खटक तो उसी दिन गई थी। तभी तो कृष्ण-चरित्र को इस प्रकार दूषित होता हुआ देखकर मर्यादा-भक्त, भारतीय चेतना-प्रतीक महात्मा तुलसीदास ने विष्णु के मर्यादारूप अवतार राम को साहित्य का विषय बनाने का बीड़ा उठाया था, परंतु खेद कि वह पथ इनका प्रशस्त नहीं हो सका। जनता ने इंद्रियानुभूतिजन्य सुखों के सामने मर्यादा के श्रेयस्कर पथ को न अपनाकर अपनी भूल को दोहरा ही तो दिया। यदि तुलसी की मर्यादा-महत्ता को जनता ने अपना लिया होता तो हिंदी साहित्य में भक्ति-प्रवाह के पश्चात् शृंगार-साहित्य की अवतारणा न हुई होती। खैर, जो भी हुआ उसके लिये सूर

ही एक-मात्र दोषी थे, यह भी हम नहीं कह सकते। हमारी इस मनोवृत्ति पर मुस्लिम-विलासिता का प्रभाव भी अपना रंग चढ़ा चुका था। और यह भी नहीं कहा जा सकेगा कि यहां सब केवल काले कोयले ही थे। नहीं, कुछ सच्चे हीरे भी इनमें थे ही, जिनमें सच्ची भक्ति और सच्ची अनुभूति का अंकुर उगा-विकसा और फला-फूला। ऐसे ही तथ्यवादियों में से भक्त-प्रवर रसखान का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जावेगा जो कि सूर की भांति ही रसिकों के मुहल्ले से आकर विरागियों की बस्ती में आ बसे थे।

सूर ने अपने शृंगार में राधा-कृष्ण के प्रेम को प्रमुखतया बाह्यार्थ-विधान से ही सज्जित किया है। उसमें क्रीड़ा, विलास, रास, संयोग की विधियां और छेड़-छाड़ की बातें ही प्रमुख हैं। वियोग शृंगार में जिन संचारियों का प्रयोग रहा है, वे भी अधिक चमत्कारपूर्ण नहीं हैं। प्रेम की लीनता का वह रूप कम ही मिलता है जिनमें अनुभूतियों की व्यंजकता स्पष्ट हुआ करती है। पर कुछ भी हो, सूर की राधा हमारे साहित्य की अनुपम कृति है। राधा से कन्हैया का बचपन का संग है। उनके पहले आकर्षण के संबंध में देखिये—

"खेलन हरि निकसे ब्रजखोरी।
कटि कछनी पीताम्बर ओढ़े हाथ लिये भंवरा चकडोरी॥
गये स्याम रवितनया के तट, अंग लसत चंदन की खोरी।
औचक ही राधा तहं देखी, नयन विसाल भाल दिये रोरी॥

नील वसन फरिया कटि पहने, बेनी पीठ रुचिर झकझोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥"

इस प्रथम दर्शन में ही वे परिचय बढ़ाने के लिये उत्सुक हो उठे—

"बूझत स्याम, कौन तू गौरी?
कहां रहत, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूं ब्रज खोरी।"

उसने भी उत्तर दे दिया—

"काहे को हम ब्रजतन आवति, खेलत रहति आपनी पोरी।
स्रवननि सुनति रहति नंद ढोटा करत रहत माखन की चोरी॥"

उत्तर तो था चुभने वाला ही पर नारियों की न-न में स्वीकृति का आभास पाने वालों की दृष्टि में कृष्ण के लिये यह एक साधारण सी बात थी। परिचय हुआ—बढ़ा और खूब ही फूला-फला।

सूर के श्रृंगार में मुरली का माधुर्य भी अपना एक मोल रखता है। गोपियों की दृष्टि में यह मुरली सदा खलती ही रही है। हर समय यही दुष्टिनी कन्हैया के ओठों का रसपान करती रहती है। तभी तो मुरली में गोपियों का सौतिया-डाह रहता है। प्रेम के प्रभाव ने गोपियों में मुरली के स्वर की सजीवता देखी और जी भर-भरकर कोसना आरंभ कर दिया—

"मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी! जदपि नंद नंदहि, नाना नाच नचावति।

राखति एक पांव ठाढ़े करि, अति अधिकार जनावति ॥
आपुन पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर पल्लव सो पद पलुटावति ।
भ्रकुटी कुटिल कोप नासापुट हम पर कोप कंपावति ॥"

यही शृंगार रासलीला में अपनी चरमावस्था में पहुंच गया है। रास संबंधी एक पद में उसका अनुभव किया जा सकता है—

"मानो माई घन घन अंतर दामिनि ।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर, सोभित हरि-ब्रज भामिनि ॥
जमुना-पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहायी जामिनि ।
सुंदर ससि गुन रूप रागनिधि, अंग-अंग अभिरामिनि ॥
रच्यौ रास मिलि रसिक राइ सों मुदित भई ब्रजभामिनि ।
रूपनिधान स्यामसुंदर घन आनंद मन बिस्रामिनि ॥"

इसी प्रकार सूर का वियोग शृंगार भी अति सुंदर रहा है। कृष्ण के मथुरा-प्रवास पर गोपियों में जो विरह-सागर उमड़ा है उसका तो वार-पार ही नहीं मिल पड़ा है। जिस अनुपस्थिति में गोपियां रो-रोकर सूख गईं उस अनुपस्थिति में ये वृंदावन के वृक्ष हरे-भरे क्यों हैं! गोपियां उन्हें ही कोसने लग पड़ती हैं।

"मधुबन, तुम कत रहत हरे ?
विरह-वियोग श्यामसुंदर के, ठाढ़े क्यों न जरे ॥
तुम हौ निलज लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे ।

ससा स्यार औ बन के पखेरू, धिक-धिक सबन करे ॥
कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे ?"

इस प्रकार के अनेक परंपरागत उपालंभ सूर के वियोग शृंगार में मिलेंगे। किमधिकम्, सूर का यह शृंगार संयोग और वियोग, दोनों रूपों में साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा मौलिक और अनुपम रहा है। भले ही उसने प्रभाव कुछ भी उत्पन्न किया हो, परतु एक रसिक का बोलता हृदय उसमें अवश्य है।

सूर का भ्रमरगीत

यूं तो उपालंभ-काव्य के रूप में "भ्रमरगीत" शृंगार का ही एक अंग है, परंतु सूर के यहां इसका एक और ही प्रयोजन रहा है। सूर इसे केवल एक साधारण संवाद द्वारा शृंगार-सौंदर्य के लिये नहीं लाये। वस्तुतः बात यह है कि मध्ययुग के संतसाधक प्रभुदर्शन का एक-मात्र साधन ज्ञान को ही मान बैठे थे। इन ज्ञानाभिमानियों की गति को रोकने के लिये भक्ति को आगे लाना अनिवार्य था। ज्ञान और भक्ति का यह संघर्ष भारतीय आध्यात्मिक जगत् की बहुत पुरानी वस्तु है। यूं तो वल्लभाचार्य ने भी अपने अणुभाष्य में पृथक्-पृथक ज्ञान और भक्ति दोनों को ही निर्थरक बताया था—

मुख्यं यदद्वैतज्ञानं तत्भक्तिभावैः देशाव्यभिचारभावेष्वेकतरदिति-

सर्षपस्वर्णाचलयोरिव ज्ञानभक्त्योस्तारतम्यं कथं वर्णनीयम् (२-२-३७)।

रहे तो सूर भी इसी मत के और उन्होंने अविगत और अव्यक्त की महिमा भी गाई इसी दृष्टि से, परंतु संत संप्रदाय की ज्ञानधारा में जनसाधारण कहां शांति पा सकता था। वस्तुतः ज्ञान मस्तिष्क की वस्तु है और भक्ति हृदय की। इस मस्तिष्क के दांव-पेचों की गुत्थियों को सुलझा सकना समाज के प्रत्येक प्राणी का काम नहीं। हां, हृदय की भावना को विश्वास की तल्लीनता में बांध सकना उसकी अपेक्षा बहुत सरल है। भक्त अपनी भक्ति पर मोह कर सकता है। ज्ञानमार्गी की तार्किकता उसे बांधने में असमर्थ ही रह जाती है। तो, कुछ तो इस कारण और कुछ इस कारण कि दक्षिण के अलवारों (शिव-भक्तों) के संपर्क में आये हुए आचार्य भी इससे प्रभाव ग्रहण कर ही रहे थे, यह भक्तिपथ प्रशस्त होता चला गया। यह हम नहीं कहते कि भक्त-कवियों में निर्गुणियों के ज्ञानमहल पर चढ़ने और उसे अवगाहन करने की बुद्धि नहीं थी, और यदि उनमें योग्यता न होती तो निर्गुणियों की रहस्यवाणी के अनुसार ही दृष्टकूट के ढंग की रचना इनके यहां न होने पाती, परंतु जनसाधारण का उपकार उन्हें भक्ति-पथ में ही दीख पड़ा। इसलिये साधारण बुद्धियों के लिये भक्ति का पथ ही प्रचारित किया गया।

भागवत में भ्रमरगीत का प्रसंग न काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण बन पड़ा है और न विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से।

भागवत में भक्ति का महत्व प्रतिपादन किया जा रहा है, परंतु ज्ञान के विरोध में कुछ भी नहीं कहा गया। लेकिन सूर ने इस विषय को जिस रूप से प्रस्तुत किया है, हमारे साहित्य में वह निराले ही ढंग का है। सूर का यह "भ्रमरगीत" सूरसागर का सबसे महत्वपूर्ण वाग्वैदग्ध्य-भरा उपालंभ-काव्य है। इस संवाद में तर्क के स्थान पर जो मार्मिकता अपनाई गई है वह अनमोल रही है। ये गीत विप्रलंभ शृंगार के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

भ्रमरगीत का कथा-उठान उद्धव के ज्ञानाभिमान में होता है। कृष्ण देखते हैं कि उद्धव ज्ञान के अभिमान में उद्धत होते चले जा रहे हैं। उधर व्रज से बुलावे पर बुलावे आ रहे हैं। वे सोचते हैं, चलो ऐसे समय इस ज्ञानिये को ही अपने जी की निकाल लेने दो। उद्धव को सम्मति दी जाती है—जाओ, गोपियों को कह दो कि निर्गुण के ध्यान में लीन हों। सगुणता में क्या धरा है! इस निर्गुण को ज्ञान का प्रतीक समझना चाहिये और सगुण को भक्ति का (सूर ज्ञान और भक्ति के प्रश्न को निर्गुण और सगुण के रूप में ले आते हैं)। उद्धव निर्गुणता की सारी दार्शनिकता ज्ञान के जहाज पर लादकर चल पड़ते हैं। उनका रथ आया देखकर व्रजभर की गोपियां घेरकर खड़ी हो जाती हैं। वस्तुतः पहले तो उन्हें यही भ्रम हुआ कि इस रथ में कन्हैया आये होंगे, परंतु निकट पहुंच कर निराश रह गईं। साथ ही कुछ क्रोध भी आया इन रंग के

कालों पर, जो रंग के तो काले हैं ही, मन से भी काले ही निकल जाते हैं। उसने कुछ उपदेश दिया और उत्तर में उन्होंने सत्कार किया इन शब्दों में—

"बिलग जानि मानहु, ऊधो प्यारे।
वह मथुरा काजर की कोठरि, जे आवहिं ते कारे॥
तुम कारे सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भंवारे।
तिनहूं मांझ अधिक छवि उपजत, कमलनैन मनियारे॥"

उन्हें उत्तर देने की सांस भी न आई कि झट यही संदेह उत्पन्न कर दिया गया कि कहीं उद्धव यहां भूल से तो नहीं आ गये। उद्धव, तुम भूलकर तो इधर नहीं आये, यदि कृष्ण ने तुम्हें जान-बूझकर भेजा है तो सचमुच तुम्हें मूर्ख बनाने के लिये ही—

"ऊधो जाहु तुम्हैं हम जाने॥
स्याम तुम्हे यहां नाहिं पठाये, तुम हो बीच भुलाने।
ब्रज बासिन सों तुम जोग कहत हो, बातहुं कहत न जाने॥
सांच कहो तुम को अपनी सौं, बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुमहि पठाये तब नेकहुं मुस्काने॥

बस जान पड़ता है, कृष्ण ने तुम्हें इधर भेजकर तुम्हारे साथ ठट्ठा ही किया है। या शायद तुम उनका संदेश ठीक-ठीक समझ नहीं सके—

"ऊधो! जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यौ है नंदकुमार।"

पर वे बाज न आये, अपनी ही कहते गये; दूसरों की सुनी ही नहीं। गोपियों को क्रोध आया और लगाई फटकार—

"ऊधो ! होहु आगे तें न्यारे।

तुम्हैं देखि तन अधिक तपत है, अरु आखिन के तारे।"

ऊधो अपनी धुन के पक्के थे, फिर भी न रुके; कहते ही गये अपनी बात। उनकी अप्रिय बातों पर वे फिर खीज उठीं और बोलीं—

"ऊधो ! तुम अपनो जतन करो।

हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ ?

जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहत हैं जी की।

कछू कहत कछुवै कहि डरत, धुनि देखियत नहिं नीकी ॥"

उद्धव निर्गुण की चर्चा चलाते हैं तो गोपियां पूछती हैं—महाशय इस निर्गुण का पूरा परिचय क्या है. इसके माता-पिता का नाम तो बताइये कृपा करके !—

"निर्गुण कौन देस को बासी ?

मधुकर हंसि समुझाई, सौंह दै बूझति साँच न हासी ॥

को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी ?

कैसो बरन बेस है कैसो केहि रस में अभिलासी ?"

उद्धव अपनी बक-बक रोकते नहीं तो उन्हें कहना ही पड़ता है—

"सुनि है कथा कौन निर्गुण की रचिपचि बात बनावत

सगुन-सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत ॥"

उद्धव ने बताया कि इस निर्गुण की अभिव्यक्ति के लिये योगसाधन की आवश्यकता है। गोपियां बोलीं, हम भोली बालिकाएं अहीरों की, हमें योग की क्या समझ पड़ेगी—

"ऊधो, हम अयान मति भोरी,

जानैं तेइ जोग की बातें, जे हैं नवल किसोरी ॥
सबतें ऊंचो ज्ञान तुम्हारो, हम अहीरि मति भोरी ॥"

"योग" को श्लिष्टपद बनाकर जो उत्तर दिया गया उससे उद्धव की क्या गति बनी होगी इसका हमें पता नहीं। पर इतना स्पष्ट है कि इस पद में उन्होंने कृष्ण-वियोग के मर्म आघात को लज्जा के आवरण में व्यक्त कर ही दिया। तभी तो उन्होंने कहा—

"ऊधो जी हमहिं न जोग सिखैये।
जोहि उपदेस मिलै हरि हमको सो व्रत नेम बतैये ॥"

और फिर, ये—

"अंखियां हरिदरसन की भूखी
कैसे रहैं रूप-रस-रांची, ए बतियां सुनि रूखी ॥"

गोपियों को अपने सगुण-सलोने के सामने निर्गुण बे-स्वाद—फीका लगता है। उद्धव का योग भी उन्हें स्वीकार नहीं। वे तो चाहती हैं अपने मोहन का योग—संयोग। जिस योग की वे चर्चा करते हैं उससे तो उन्हें वियोग ही अच्छा। इस रूप में निर्गुण भित्ति का आधार-स्वरूप ज्ञान उन्हें स्वीकार नहीं

हो सका है। यही ज्ञान पर भक्ति की विजय है। इस भक्ति के आधार कृष्ण गुणहीन होकर भी निर्गुण से प्रिय लगे हैं—

"ऊनो कर्म कियो मातुल बधि, मदिरा मत्त प्रमाद।
सूर स्याम एते अवगुन में, निर्गुन तें अति स्वाद॥"

प्रेमी को उसके हृदय के विरुद्ध कुछ न कहा जाये। अपने विरुद्ध उसे प्रत्येक बात घात करती प्रतीत होती है। वियोग-संतप्ता गोपियां इसीलिये प्रत्येक बात का उत्तर कटे-जले शब्दों में देती हैं। और अपने मर्म को बाहरी हंसी से ढके रहना तो भारतीय रमणी का एक परंपरा-प्रसिद्ध गुण है ही। फिर जिसे वे चाहती हैं उससे बढ़कर तो संसार में कुछ भी हो नहीं सकता। प्रिय के प्रेम के आगे मुक्ति भी उन्हें स्वीकार नहीं, तो योग लेकर वे क्या करें।

इस अलौकिक विरह-व्यंजना के साथ गोपियों का जो परिहास मिल गया है वह हमारे साहित्य की अनुपम वस्तु रहेगा। सूर सगुण की महत्ता स्थापित करने में किसी दार्शनिकता का रक्षण ग्रहण नहीं करते, बल्कि उनकी मार्मिक मनोमुग्धकारी सरस उक्तियां ही प्रस्तुत होती हैं। यही उनके भक्ति-पक्ष की अभिव्यक्ति है।

दृष्टकूट पद

भारतीय संत-महात्माओं की परंपरा में यह प्रथा बहुत

ही बुरे ढंग से चली आई है कि उन्होंने अपने जीवन में जो भी रहस्य प्राप्त किये हैं, उन्हें रहस्य ही बनाकर रख छोड़ा है। उन्होंने किसी भेद से परिचित होकर उसे सरल करके प्रचारित करने की इच्छा कभी भी नहीं की। ये हमारे संत-महात्मा कोई भी भेद उस समय खोलते थे जिस समय अपना अंतिम समय निकट ही जान लेते थे। और वह भी सर्वसाधारण के लिये नहीं अपितु केवल उन्हीं चेले-चांटों के लिये जिन्होंने कि उनकी बहुत दिनों तक सेवा की हो। शायद ऐसा वे करते ही सेवा कराने के लालच से थे। कई संत-महात्मा तो ऐसे भी होते थे कि वे उन अमूल्य रहस्यों को अपने साथ ही ले जाते थे और उनकी मृत्यु के पश्चात् न उनका नाम ही रह जाता था और न उनका महत्व ही। ऐसा करने में असली लालच तो केवल शिष्यों पर अनुशासन जमाये रखने का ही होता था, परंतु कहने को वे यह भी कहते थे कि इस गूढ़ ज्ञान की प्राप्ति का अधिकार केवल तपोनिष्ठों को ही हो सकता है। ऐसा करने में वह रहस्य अथवा छिपा हुआ ज्ञान कोई अधिकारी ही अपने प्रयत्नों से प्राप्त कर सकता था। इसीलिये ये लोग सीधी-सादी बातों को प्रतीकों, संकेतों तथा पारिभाषिक शब्दों की ओट लेकर प्रकट करते थे। यही सांकेतिकता सिद्ध-संतों की रचना में मिलती है। कबीर के पदों में यही "उलटबांसियां" बनकर आई हैं और सूर के यहां "दृष्टकूट" का नाम लेकर। यह प्रथा केवल पांडित्य-प्रदर्शनार्थ ही चली होगी और उसी

भाव में आज भी चलती आ रही है। यमक, रूपक और श्लेषालंकारों ने इस कार्य में बड़ा सहयोग दिया। और यमक तो मानों इस विषय की पूर्णतया अपनी ही वस्तु बन गया। इसे निम्न पद में अच्छी तरह समझा जा सकता है—

"सारंग[1] समकर नीक-नीक सम सारंग[1] सरस बखाने।
सारंग[2] बस भय, भयबस सारंग[2], सारंग विसमै माने॥
सारंग[3] हेरत उर सारंग[4] ते सारंग सुत ढिग आवै।
कुंतीसुत[5] सुभाव चित समुझत सारंग[6] जाई मिलावै॥
यह अद्भुत कहिबे न जोग जुग देखत ही बनि आवै।
सूरदास बिच समें समुझ करि विपई विपै मिलावै॥"

इसी प्रकार एक पद में राधा का चित्र प्रस्तुत किया गया है—

"अद्भुत एक सुंदर बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीड़त है, ता पर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक पिक मृग मद काग।
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मणिधर नाग॥"

१—हरिन। २—रागविशेष। कृष्ण जी। ४—कमल।
५—कुंतीपुत्र कर्ण, यहां भाव है कान से। ६—हृदय

यह अद्भुत बाग राधा का सौंदर्य-स्वरूप है। कमल से चरणों की और गज-क्रीड़ा में मस्तानी चाल की भावना रखी है। सिंह में राधा की पतली कमर की व्यंजना है। हरि पर सरवर कहकर कटिभाग में स्थित नाभि का संकेत हुआ है। इसी सर पर गिरिवर से तात्पर्य वक्षस्थल की पीनता से लिया गया है। कंजपराग में कुचाग्र-लालिमा की ओर संकेत है। कपोत में कंठ और अमृत फल में मुख की आभा अभिव्यंजित है। पुहुप शब्द चिवुक के लिये तथा पल्लव ओठों के लिये प्रयुक्त हुआ है। शुक से नासिका-सौंदर्य प्रदर्शित किया गया है और पिक से स्वर-माधुर्य-भाव। खंजन हैं दो आंखें, धनुष दो भौंहें और चन्द्रमा मस्तक; फिर मणिधर नाग स्पष्ट है ही वह वेणी जिसके अग्रभाग में सिंदूर भरा है।

इसमें यमक का प्रयोग नहीं किया है बल्कि उपमेय को छिपाकर केवल उपमान के सौंदर्य द्वारा रूपकातिशयोक्ति प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार एक पद में कृष्ण-सौंदर्य प्रस्तुत किया गया है—

"गृह ते चली गोप कुमारि।
परक ठाढ़ो देखि अद्भुत एक अनुपम मार॥
कमल ऊपर सरल कदली कदली पर मृगराज।
सिंध ऊपर सर्प दोई सर्प पर ससि साज॥
मद्ध ससि के मीन खेलत रूप कात सुचुक।
सूर लखि भई मुदित सुंदर करत आछी उक्ति॥"

यहां भी चरण हैं कमल, कदली हैं जंघाएं। मृगराज कहकर सिंह के समान कमर की ओर संकेत किया गया है। सर्प में भुजाओं का संकेत रहा है और ससि में मुख की सुंदरता का। और मीन से स्पष्ट हैं ही चंचल आंखें।

सूर के पदों की यह सांकेतिकता हमारे साहित्य की कोई नई वस्तु नहीं थी। उसका मूल हमारे साहित्य में अनादि काल से वर्तमान रहा है। संसार के आदिग्रंथ वेद में भी इसी प्रकार के गूढ़ अर्थों की अभिव्यक्ति में यही भावना विद्यमान है। यही परंपरा हमारे साहित्य में आदिकाल से आई थी। दृष्टकूट का अभिप्राय है—कठिन प्रश्न अथवा पहेली। सो मुस्लिम आदि प्रसिद्ध कवि खुसरो की पहेलियों और कह-मुकरियों में भी यही वस्तु रही है। रसिक कवि विद्यापति ने भी इस प्रकार के प्रयोग किये ही हैं। कुछ आलोचकों का तो यहां तक कहना है कि सूर पर भी विद्यापति की ही कूटवाणी का प्रभाव रहा है। कुछ भी हो, सुर के दृष्टकूटों में अपनी योग्यता का अभाव तो है ही नहीं। निर्गुणिये कबीर की रहस्यवाणी में भी इसी छलवाणी का प्रयोग हुआ है। अपनी उलटबांसियों में तो कबीर इतने जटिल हो गये हैं कि लोग उनका ठीक-ठीक अर्थ न निकाल सकने पर उन्हें व्यर्थ की ऊटपटांग रचना ही कहने लग पड़े हैं। कुछ भी सही, इस प्रकार की रचना में हमारे साधकों ने अपनी साधना की अमूल्य निधियां अवश्य ही छिपाकर रखी थीं। भले ही उन्होंने अनुभूत ज्ञान को

सर्वसाधारण के लिये सुलभ नहीं होने दिया, परंतु यह भी उचित ही रहा; क्योंकि ऐसा होने से इस गूढ़ ज्ञान को खोजिया ही प्राप्त कर सकने का अधिकारी हो सका। जिसे लगन लगेगी वह पा लेगा। जिसमें सच्ची तल्लीनता का अभाव होगा वह इन अनमोल मणियों का स्पर्श करके इन्हें अपवित्र नहीं कर पायेगा।

इसके अतिरिक्त ये रूपक साधकों के अपने मनों को भी खूब रिझाते रहे होंगे। उनकी अपनी दृष्टि किस वस्तु को किस रूप में देख पाती रही होगी, इसमें उनकी अनुभूतियां और योग्यता की पहुंच कितना चमत्कार रखती होगी, यह सब उनकी सांकेतिकता से स्पष्ट हो जाता है। उनकी रचना में प्रयोग हुए उपमानों के रूप में आये हुए संकेत केवल काव्य-परंपरा में आये उपमान ही नहीं थे, ये तो उनकी अपनी चमत्कार-पूर्ण बुद्धि का ही प्रकाशन था—और इसी में उनके महत्त्व का ममत्त्व रखा था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर कृष्णकाव्य के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। केवल तुलसी को छोड़कर हमारे साहित्यभर में उनका स्थान सबसे ऊंचा है और नये प्रसंगों की सृष्टि करने में तो वे तुलसी से भी आगे हो गये हैं। भले ही सूर का काव्यक्षेत्र तुलसी की भांति व्यापक नहीं था, परंतु फिर भी जिस परिमित क्षेत्र में उसने अपनी वाणी का प्रेमामृत बहाया उसमें उसका कोई कोना सूना नहीं रहा। भक्ति के क्षेत्र में सूर का शृंगार और वात्सल्य अनूठे ही हैं, बल्कि वात्सल्य का

तो उन्हें अवतार ही कहना चाहिये। सूर के अतिरिक्त अन्य सभी कवियों का वात्सल्य तो सूर का उच्छिष्ट-मात्र ही प्रतीत होता है। अपने भ्रमरगीतों में उन्होंने अपने प्रत्युत्पन्नमतित्व का प्रमाण दिया है और अपने दृष्टकूटों में रहस्यमयी साधना के अधिकारी होने का।

वात्सल्य, शृंगार, भ्रमरगीत और दृष्टकूटों के अतिरिक्त उनका शांतरस और प्रकृतिवर्णन भी अच्छा रहा है। शांतरस भक्ति का आधार है और इस प्रकार वह उनकी वात्सल्य-भाव की भक्ति का अंग हो जाता है तथा प्रकृति-चित्रण को शृंगार के उद्दीपन-विभाव का रूप प्राप्त हो जाता है। इस रूप में इन वस्तुओं को हमने पृथक्-पृथक् स्थान न देकर अपने विषय को संक्षेप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

इस अवस्था में हम सूर को कृष्ण-काव्य-धारा का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं। कृष्ण-भक्ति-धारा में आगे चलकर आने वाले कवियों में ऐसी कौनसी बात है जो उनमें न आ पाई हो। इसीलिये तो उनके किसी आलोचक ने कहा था कि

> "तत्त्व तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठि।
> बची खुची कबिरा कही, और कही सब झूठि॥"

सचमुच सूर ने पते की कही है—उसने तत्त्व की ही कही है।

☆

चतुर्थ अध्याय

☆

अष्टछाप के अन्य कवि

☆

नंददास

कृष्ण-भक्त कवियों में अष्टछाप की जो मानता है उसका उल्लेख पीछे हो चुका है। सूर इसी अष्टछाप के सर्वोच्च कवि थे। सूर के पश्चात् जिस सर्वोच्च कवि का नाम लिया जा सकता है, वह है नंददास। यदि उन्हें कृष्ण-काव्य-गगन का चंद्रमा कह दिया जाय तो अनुचित न होगा।

कुछ लेखकों ने नंददास को भक्त-प्रवर तुलसीदास का भाई बताया है, परंतु इस बात की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं मिलता। भक्तवर नाभादास के भक्तमाल में नंददास के संबंध में एक छप्पय इस प्रकार से मिलता है—

"लीलापद रसरीति ग्रंथ रचना में नागर।
सरस उक्ति जुत भक्ति रस गान उजागर॥
प्रचुर पयध लौं सुजस "रामपुर" ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संवलित भक्त पद रेनु उपासी॥

चंद्रहास अग्रज सुहृद, परम प्रेम पै मै पगे।
(श्री) नंददास आनंदनिधि, रसिक प्रभुहित रंग मगे॥"

इस पद से ज्ञात होता है कि वे रामपुर ग्राम के निवासी थे और चंद्रहास या तो उनके बड़े भाई थे अथवा उनके भाई के कोई मित्र। परंतु बड़े भाई के मित्र न मानकर यदि हम "परमोत्तम हृदय वाले भाई" अर्थ कर लें तो अधिक उचित प्रतीत होता है। अस्तु!

नंददास को सूर का समकालीन ही माना जाता है, परंतु इनका रचनाकाल सूर की मृत्यु के उपरांत संवत् १६२५ में ही मानते हैं।

कहते हैं, ये पहले बड़े रसिक जीव थे। एक बार द्वारिका-यात्रा पर जाते-जाते मार्ग में सिंधुनद ग्राम में एक खत्रानी पर मोहित हो गये। द्वारिका-यात्रा तो भूल गये और उस स्त्री के घर के चारों ओर चक्कर काटना आरंभ कर दिया। यही उनका दैनिक कार्य-क्रम हो गया। घर वाले इस बला से बचने के लिये छिपकर गोकुल को चल पड़े। इन्होंने भी पीछा न छोड़ा—उनके पीछे-पीछे वहीं पहुंच गये। अंत में गोसाईं विट्ठलनाथ जी का साक्षात् प्राप्त करके मोह-मुक्ति प्राप्त की और पीछे उन्हीं से दीक्षा लेकर श्रीनाथ जी के मंदिर में ही रहने लगे। रसिकता उनकी तब भी बनी रही। श्रीनाथ जी की सेविका 'रूपमंजरी' से उनका अनन्य लगाव था और उसी के नाम पर 'रूपमंजरी' ग्रंथ की रचना भी की गई थी। खैर,

वे जो भी कुछ थे, सही, परंतु उनकी यह रसिकता काव्य में एक अलौकिक माधुर्य बनकर चमकी। इसी माधुर्य पर मुग्ध होकर तो किसी ने कह डाला था—

"और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया।"

नंददास की सर्वप्रसिद्ध रचना रासपंचाध्यायी है जो कि रोला छंद में तैयार हुई है। इसमें कृष्ण की लीला का सज्जित-सहित्यिक भाषा में वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ के अतिरिक्त इनके अनेकार्थमंजरी, भंवरगीत और अनेकार्थ नाममाला नामक ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त भागवत दशम स्कंध, रुक्मिणीमंगल, रूपमंजरी, मानमंजरी, विरहमंजरी, दानलीला, मानलीला, सिद्धांत-पंचाध्यायी, नामचिंतामणि, ज्ञानमंजरी, श्यामसगाई, सुदामा-चरित भी इनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। हितोपदेश और नासिकेत-पुराण—ये दो और ग्रंथ भी इनके रचे सुने जाते हैं। इनके साथ ही दो सौ से अधिक फुटकर पद भी बताये जाते हैं। वैसे इन सबमें रासपंचाध्यायी और भंवरगीत की बहुत ख्याति है। रासपंचाध्यायी का मुख्य आधार श्रीमद्भागवत दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध, अध्याय २९ से लेकर ३३ तक वाले ५ अध्याय हैं। साथ ही हरिवंश पुराण का आधार भी उसे प्राप्त रहा है। इसी प्रकार उसके माधुर्य, गतिप्रवाह और शैली में जयदेव के गीतगोविंद का अभास भी तीसरे आधार के रूप में सहायक रहा है। इन आधारों के रहते हुए भी पंचाध्यायी

के अनेक प्रसंगों में नंददास को अपनी मौलिकता और प्रतिभा का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है।

इनकी दूसरी प्रसिद्ध रचना "भंवरगीत" तो अपने ढंग की निराली ही वस्तु है। कृष्ण-भक्त कवियों में भ्रमरगीत लिखने की परिपाटी सूर से पड़ी। नंददास के अतिरिक्त हित वृंदावनदास, महाराज रघुराजसिंह और सत्यनारायण कविरत्न ने भी भ्रमरगीत लिखे। रत्नाकर ने भी उद्धवशतक के रूप में भ्रमरगीत की ही परंपरा निबाही, परंतु भ्रमरगीतों में जो माधुर्य और प्रभाव नंददास ने प्राप्त किया वह अन्य को नहीं मिल सका। सूरदास के भ्रमरगीत का उद्धव जहां केवल कृष्ण का संदेश-वाहक-मात्र रह गया है, वहां नंद का उद्धव दार्शनिकता से परिपूर्ण और निज का व्यक्तित्व रखने वाला सिद्ध हुआ है। नंददास के उद्धव गोपियों को निर्गुण की "निर्गुण निराकारता" का उपदेश देते हैं तो गोपियां किन अकाट्य युक्तियों और तर्कों के साथ उत्तर देती हैं—

"जो मुख नाहिन हतो कहो किन माखन खायो।
पायन बिन गो संग कहौ बन-बन को धायो ?
आंखिन में अंजन दयो गोवर्धन लयो हाथ।
नंद जसोदा पूत हैं कुंवर कान्ह ब्रजनाथ ॥"

इस प्रकार जिस तार्किकता के आधार पर सगुणता प्रकट करके निर्गुणवाद का खंडन किया है, देखते ही बनता है।

उपालंभ देने में भी सूर की गोपियों से अधिक पटु नंददास की गोपियां दीख पड़ेंगी—

"कोऊ कहै, अहो मधुप स्याम जोगी तुम चेला,
कुब्जा तीरथ जाय कियो इंद्रिन को मेला।
मधुबन सुधि बिसराय कै आये गोकुल माहिं,
इहां सबै प्रेमी बसैं तुमरो गाहक नाहिं॥
पधारौ रावरे॥"

कैसा उल्लू बनाया है बेचारे उद्धव को। कैसी वाक्-पटुता है गोपियों की, सारी ही चतुराई को हंसकर उड़ा डाला और उद्धव अपना-सा मुंह लेकर रह गये।

भंवरगीत का रोले और दोहे वाला यह सम्मिलन जब अपने अंतिम पद से आगे गीत के रंग में ढल जाता है तो एक अद्भुत आनंद की अनुभूति छोड़ जाता है। प्रत्येक पद की दोहे के पीछे वाली पांचवीं पंक्ति हृदय को झनझना जाती है। भंवरगीत, गीति-काव्य के ढंग की रचना है। कवि ने इसे संगीत के ढंग पर छंदों में ढालकर कोरे तर्क तथा दार्शनिकता वाले विषय को भी रस-सिक्त बना डाला है।

नंददास ने अपने काव्य में अवस्थानुकूल ओज, प्रसाद और माधुर्य का अच्छा उपयोग किया है। रसों में शृंगार प्रधान रूप से प्रयोग हुआ है। साथ ही करुणा और हास्य के चित्र भी अच्छे प्रस्तुत हुए हैं।

रासपंचाध्यायी के निम्न पदों में करुणा का चित्र कितनी सजीवता के साथ चित्रित हुआ है—

"प्रनत मनोरथ करन, चरन सरसीरुह पिय के।
का कटि जहै नाथ, हरत दुख हमरे जिय के॥"

तथा

"कहा हमारी प्रीति कहाँ प्रिय! तुव निठुराई।
मनि पखान सौं खचै, दई तैं कछु न बसाई॥"

भाषा और भावों की दृष्टि से भी नंददास का ऊंचा स्थान है। प्रवाह और गतिशीलता में जो रसोद्भावना उठती है उससे कथन में एक बल-सा उत्पन्न हो जाता है। यही बल है जो हृदय को स्पर्श करने का प्रभाव रखता है। कवि की अपनी वाणी में ऐसा प्रतीत होता है मानों उसमें कृष्ण-काव्य-काल का माधुर्य सिमटकर घनीभूत हो गया है। और भला यह होता भी क्यों न! आखिर नंददास अपनी रसिकता से पृथक् थोड़ा ही हो गये थे!

नंददास के ग्रंथ इतने भावपूर्ण हैं कि उनकी टक्कर लेने वाले ग्रंथ हिंदी में बहुत ही कम होंगे; और उनकी रासपंचाध्यायी को तो हिंदी का गीतगोविंद ही कहना चाहिये। रोला छंद लिखने में इनकी-सी सफलता शायद ही अन्य किसी कवि को मिली हो। इनका अनेकार्थ-माला-कोष तो हिंदी का सर्वप्रथम छंद-बद्ध-कोष है ही।

कृष्णदास

अष्टछाप के कवियों में भक्त कृष्णदास का नाम भी बड़े सम्मान का है। इनकी जन्म-मरण की तिथियों का तो ठीक पता चलता नहीं; हां, इनका कविताकाल संवत् १६०० के लगभग माना जाता है।

ये जाति के शूद्र थे। इन्होंने वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी। आचार्य जी के बड़े कृपापात्र थे, उन्हीं की कृपा-दृष्टि से कुछ समय तक मंदिर के मुखिया भी रहे। कहते हैं, एक बार विट्ठलाचार्य पर अप्रसन्न हो गये और उनका मंदिर-प्रवेश बंद कर दिया। महाराज बीरबल आचार्य जी के कृपापात्र थे, इसलिये उन्होंने कृष्णदास जी को बंदी कर लिया। मंदिर के मुखिया की गिरफ्तारी से भी आचार्य को दुःख ही हुआ, इसलिये स्वयं कहकर इन्हें मुक्त कराया।

इनकी रचना का विषय केवल राधा-कृष्ण-शृंगार-वर्णन ही है। सूर और नंद के पश्चात् अष्टछाप में इन्हीं की कविता सर्वोत्तम है। इनका लिखा 'जुगलमानचरित' छोटा-सा ग्रंथ मिलता है। इसके अतिरिक्त भ्रमरगीत और प्रेमतत्त्व-निरूपण नामक दो ग्रंथ और भी सुनने में आये हैं। कुछ अन्य फुटकर पद भी यत्र-तत्र देखने में आये हैं।

इनकी रचना में सूर और नंद का-सा रस-निर्वहण नहीं बन पड़ा है। हां, भक्ति का अतिरेक अन्य भक्तों से कम

नहीं है। कहते हैं, अपने अंतिम श्वासों में एक पद गाकर देह विसर्जन की थी। वह पद यह है—

"मो मन गिरिधर छवि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिवै, चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो॥
सजल स्याम-घन-बरन लीन ह्वै, फिरि चित्ति अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किये प्राण निछावर, यह तन जग-सिर पटक्यो॥"

परमानंददास

परमानंददास कन्नौज के रहने वाले कन्नौजिया ब्राह्मण थे। संवत् १६०६ में इनका वर्तमान रहना सिद्ध है। इन्होंने वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी। इनका लिखा 'परमानंदसागर' प्रसिद्ध है। इसमें इनके रचे ८३५ पद संगृहीत हैं। इनकी रचना में इनकी भक्ति की तन्मयता स्पष्ट लक्षित होती है; तभी तो अनेक कृष्ण-भक्त आज भी इनके पदों का गान करते सुने जाते हैं। इनकी रचना की सरसता के संबंध में प्रसिद्ध है कि इनके एक पद ने वल्लभाचार्य को तन-मन की सुधि भुलवा दी थी। इनका एक पद देखिये—

"ब्रज के बिरही लोग बिचारे।
बिन गोपाल ठगे से ठाड़े, अति दुर्बल तन हारे॥
मात जसोदा पंथ निहारत निरखत साँझ सकारे।
जो कोई कान्ह-कान्ह कहि बोलत, अँखियन बहत पनारे॥

यह मथुरा काजर की रेखा, जे निकसे ते कारे।
परमानंद स्वामी बिनु ऐसे, जैसे चंद्र बिनु तारे ॥"

कुंभनदास

ये गोवर्धन के समीप जमुनावतो गांव के रहने वाले थे। "वार्ता" के अनुसार गोरवा जाति के थे और ग्वाले का काम करते थे। कुंभन पूरे विरक्त महात्मा थे। वैसे ये परमानंद के समकालीन थे। तितिक्षा की भावना उनमें कूट-कूटकर भरी थी। मान-सम्मान की भावना से बहुत दूर रहने वाले वे एक ही भक्त थे। किसी समय सम्राट् अकबर के बुलावे पर फतहपुर सीकरी चले गये थे। सम्राट् से सत्कृत होकर भी इन्हें जन्मभर यही खेद रहा कि वे शाही बुलावे पर सीकरी क्यों गये। वही मर्म-व्यंजना उनके निम्न पद में स्पष्ट हुई है—

"संतन को कहा सीकरी सों काम ?
आवत जात पनहिया टूटीं, बिसरि गयो हरिनाम ॥
जिन कौ मुख देखे दुख उपजत, तिन करिबे परी सलाम।
कुंभनदास लाल गिरधर बिनु, और सबै बे काम ॥"

इनके रचे कुछ फुटकर पद ही मिलते हैं जिनमें कन्हैया ा बालचरित और प्रेमलीला वर्णित है।

चतुर्भुजदास

चतुर्भुजदास कुंभनदास के पुत्र थे। इन्होंने विट्ठलाचार्य

से दीक्षा ली थी। इनके रचे तीन ग्रंथ मिलते हैं:—भक्ति-प्रताप, हितजू को मंगल और द्वादश-प्रताप। इनके अतिरिक्त कुछ फुटकर पद भी मिलते हैं।

छीतस्वामी

ये भी विट्ठल के शिष्य थे। इनका समय भी चतुर्भुजदास के लगभग ही समझना चाहिये। कभी ये मथुरा के धनी पंडा थे। महाराज बीरबल जैसे इनके यजमान थे। कहते हैं, ये बड़े अक्खड़ स्वभाव के व्यक्ति थे, परंतु पीछे जब विट्ठलाचार्य से दीक्षा ले ली तो शांत-स्वभावी बन गये। इनके कुछ फुटकर पद ही मिलते हैं। इनके लीला-संबंधी पदों में शृंगारिकता, मधुरता और सरसता का अच्छा समावेश रहा है।

गोविंदस्वामी

ये जाति के सनाढ्य ब्राह्मण और अंतरी के रहने वाले थे। पहले विरक्त की भांति महावन में रहते थे, फिर पीछे विट्ठल के शिष्य हो गये। गोवर्धन पर्वत पर इनकी कुटी थी। अब यह स्थान "गोविंदस्वामी की कदंब खंडी" के नाम से प्रसिद्ध है। ये जैसे अच्छे कवि थे वैसे ही पक्के गवैये भी। प्रसिद्ध गायक तानसेन तक भी इनका गान सुनने के लिये इनके पास जाया करते थे। इनके रचे कुछ-एक फुटकर पद ही मिलते हैं।

☆

पंचम अध्याय

☆

भक्ति-युगीन कृष्ण-भक्ति में अन्य मतों का प्रादुर्भाव

कृष्ण-भक्ति के प्रमुख आधार पुष्टिमार्ग का वर्णन हो चुका है। कृष्णकाव्य की अमूल्य निधिस्वरूप ये पुष्टिमार्गी कवि जो कुछ कह गये, उससे आगे कथन की गुंजाइश कम ही थी। अपने समय में पुष्टिमार्ग का प्रभाव देश की हिंदू जनता पर पूर्ण रूप में रहा होगा। टोडरमल, बीरबल और मानसिंह जैसे राजा-महाराजा जिस मत के आचार्यों और महंतों के शिष्य और यजमान रहे हों, अकबर ने भी जिस मत की गद्दी के लिये जातिपुर और गोकुल के ग्राम प्रदान किये हों, उसके उत्कर्ष की सफलता में भला संदेह ही क्या हो सकता था।

पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त कृष्ण-भक्तों के कई संप्रदाय और भी थे जो उस समय हमारे काव्य का भंडार संपन्न करने में लगे हुए थे। इनमें राधावल्लभी, गौड़ीय और निंबार्क संप्रदायों के नाम उल्लेखनीय हैं।

राधावल्लभीय संप्रदाय के भक्त-कवियों में इसी मत के प्रवर्तक हितहरिवंश और उनके शिष्य हरीराम व्यास तथा ध्रुवदास का नाम प्रमुख है। इस मत के अनुयायियों ने युगल-मूर्ति की उपासना को ही आदर्श भक्ति माना है। इस मत के कवियों ने राधा-कृष्ण की शृङ्गारक्रीड़ा का वर्णन किया है। इस प्रकार की वर्णना में राधा का स्थान कृष्ण की अपेक्षा स्वाभाविकतया अधिक रसमय तथा मोहक बन पड़ा है।

गौड़ीय संप्रदाय में गदाधर भट्ट और सूरदास मदनमोहन का नाम प्रसिद्ध है। इसी प्रकार निंबार्क मत में निंबार्क मतांतर्गत टट्टी संप्रदाय के संस्थापक स्वामी हरिदास और श्रीभट्ट प्रसिद्ध कवि कहे जाते हैं। आगे इन्हीं मतों के प्रसिद्ध कवियों का उल्लेख करेंगे।

राधावल्लभी मत

हितहरिवंश

ये संवत् १५५६ में मथुरा के निकट बादगांव में उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम केशवदास और माता का नाम तारावती था। पहले ये माध्व मतावलंबी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। पीछे स्वप्न में राधिका जी से प्रेरित होकर राधावल्लभी नाम का अपना अलग संप्रदाय चलाया और वृंदावन में राधावल्लभ जी की मूर्ति स्थापित करके वहीं विरक्तभाव से

रहने लगे। हितहरिवंश संस्कृत के विद्वान् थे। भाषा-काव्य का भी उन्हें प्रौढ़ ज्ञान था, परंतु उन्होंने लिखा अधिक नहीं। फिर भी, जो कुछ लिखा है उसमें उनकी काव्य-माधुरी और हृदय-स्पर्शिता का अच्छा परिचय मिलता है। इनके फुटकर पदों का "हित-चौरासी" नाम से संग्रह हुआ है। इस संग्रह के अतिरिक्त इनकी फुटकर बानी भी मिलती है जिसमें सिद्धांत संबंधी पद हैं।

अपनी कविता-रस-माधुरी के कारण इन्हें कृष्ण की वंशी का अवतार कहा जाता है; और इसमें संदेह भी नहीं, क्योंकि इनकी कोमल वर्ण-योजना के द्वारा ब्रजभाषा काव्य की आभा के प्रसार में बहुत बड़ी सहायता पहुंची है।

यह उनकी रचना का एक पद है—

"रहौ कोऊ काहू मनहि दियें।
मेरे प्राणनाथ श्री स्यामा, सपथ करौं तिन छियें॥
जे अवतार-कदंब भजत हैं, धरि दृढ़ व्रत जु हियें।
तेऊ उमगि तजत मरजादा, वन बिहार रस पियें॥
खोये रतन फिरत जे घर-घर, कौन काज इमि जियें।
हितहरिबंस, अनतु सचु नाहीं, बिन या रसहिं लियें॥"

हरिराम व्यास

ये ओरछानिवासी थे और ओरछानरेश मधुकरशाह के राजगुरु थे। इनका समय संवत् १६२० के लगभग ठहरता

है। पहले ये गौड़ संप्रदाय के वैष्णव थे, पीछे हितहरिवंश के शिष्य होकर राधावल्लभी हो गये। उनका शास्त्रार्थ-महारथी होना बहुत प्रसिद्ध है। कहते हैं, एक बार इन्होंने वृंदावन में जाकर हितहरिवंश जी को भी शास्त्रार्थ के लिये ललकारा था, परंतु उनकी विनयवाणी को सुनकर उनके शिष्य ही हो गये। फिर पीछे महाराज मधुकरशाह भी लेने आये, परन्तु इन्हें वृंदावन का वियोग प्रिय न लगा। कहते हैं, वे भगवान् की अपेक्षा भक्तों को ऊँचा मानते थे। जाति-पाँति के भेद-भाव से इनके हृदय में घृणा थी। इनकी लिखी रासपंचाध्यायी प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक फुटकर पद भी रचे हैं। निम्न-लिखित दोहों में जाति-पाँति-विरोधी भावना का स्वरूप निहारिये--

"व्यास कुलीननि कोटि मिलि, पंडित लाख पचीस।
स्वपच भक्त की पानही, तुलै न तिन के सीस॥
व्यास मिठाई विप्र की, तामें लागे आगि।
वृंदावन के स्वपच की, जूठनि खैये मांगि॥"

ध्रुवदास

इनके संबंध में अधिक कुछ ज्ञात नहीं; केवल इतना पता चलता है कि ये स्वप्न में हितहरिवंश के शिष्य हुए थे। इनके लिखे सिद्धांत-विचार, रसरत्नावली, व्रजलीला, दानलीला,

वनविहार, रसविहार, भक्तनामावली आदि सभी छोटे-बड़े चालीस ग्रंथ हैं। इनके कुछ ग्रंथों से इनका रचनाकाल संवत् १६६० से १७०० तक अनुमान किया जाता है। अपनी रचना में इन्होंने पदों के अतिरिक्त कवित्त, सवैया, दोहा और चौपाई का भी प्रयोग किया है। नीचे उनका एक सवैया उद्धृत किया जाता है—

"खेलत फाग भरे अनुराग सों,
लाड़िली लाल महा अनुरागी ॥
तैसिये संग सखी सुठि सोहिनी,
प्रेम-सुरंग-सुधारस-पागी ॥
लै पिचकारी चितौनि छबीली की,
प्रीतम के उर अंतर लागी ॥
रंग की ओर, न छोर सनेह को,
देखि सबै उपमा भुव भागी ॥"

गौड़ीय संप्रदाय

गौड़ीय संप्रदाय पर श्री चैतन्य महाप्रभु का प्रभाव रहा। प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त गदाधर भट्ट चैतन्य के शिष्य थे जो कि उन्हें भागवत सुनाया करते थे। इस शाखा वालों ने कृष्ण के गोपालक स्वरूप को अपनी आराधना का विषय बनाया। चैतन्य कीर्तन के लिये बड़े प्रसिद्ध थे। वे नाम-जाप की

तन्मयता में अचेत हो जाया करते थे। इनका यह प्रभाव उनके संप्रदाय पर भी पड़ा। इसीलिये तो गौड़ीय सम्प्रदाय वालों का झुकाव कृष्णलीला और नामकीर्तन की ओर अधिक रहा। गदाधर भट्ट और सूरदास मदनमोहन इस संप्रदाय के प्रसिद्ध कवि हुए जिनका उल्लेख आगे किया जायगा।

गदाधर भट्ट

इनका रचना-काल सूर के लगभग ही है। ये दक्षिणी ब्राह्मण थे। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि ये चैतन्य महाप्रभु को भागवत सुनाया करते थे। ये संस्कृत के धुरंधर विद्वान् थे। इसीलिये इनकी रचना में भाषा की जटिलता झलकती है, परंतु भक्तसुलभ हृदय की सरलता के अनुरूप पद-विन्यास का सौंदर्य भी उसमें रमा है। संस्कृत भाषा के ऊपर जैसा अधिकार इनका था वैसा कृष्ण-भक्त कवियों में कम ही व्यक्तियों को प्राप्त हुआ है। इनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता, केवल फुटकर पद ही प्राप्य हैं। ये पद ही ब्रजभाषा के लिये गौरव-मणि-स्वरूप है। इनकी रचना सूर और नंददास की कविता से टक्कर लेती है।

भट्ट जी महाप्रभु चैतन्य के परम कृपापात्र थे और वृंदावन में उन्हीं के निकट रहा करते थे।

उनकी रचना का आनंद निम्न पद द्वारा प्राप्त किया जा सकता है—

"नंद-कुल-चंद वृषभानु-कुल-कौमुदी,
उदित वृंदाविपिन विमल आकासे।
निकट अंबुज सखी वृंद वर तारका,
लोचन-चकोर तिन रूप-रस-प्यासे॥
रसिकजन अनुराग-उदधि तजी मरजाद,
भाव अगनित कुमुदिनि-गन विकासे।
कहि गदाधर, सकल विश्व अनुरंजित किया,
भानु-भव-ताप अज्ञान न विनासे॥"

सूरदास मदनमोहन

इनका असली नाम सूरध्वज था। जीवन में भक्ति का विकास होने पर इन्होंने अपने इष्टदेव मदनमोहन से अपने नाम को इतना संबद्ध कर लिया कि लोग इनका असली नाम ही भूल गये।

जाति के ब्राह्मण तथा चैतन्य संप्रदाय के वैष्णव थे। ये अकबर के शासनकाल में संडीला स्थान के एक अमीन थे। इनका रचनाकाल संवत् १५६५ के लगभग अनुमाना जाता है। कहते हैं कि ये बड़े संत-सेवी जीव थे; जो कुछ कमाते थे वही साधु-संतों को खिला-पिला छोड़ते थे। इतना ही नहीं, एक बार तो इन्होंने संडीला तहसील के मालगुजारी के भी १३ लाख रुपये संतों को खिला-पीला छोड़े और स्वयं विरक्त

होकर वृंदावन में आ रहे। बादशाह ने अपराध क्षमा कर इन्हें बुलाया भी, परंतु ये लौटकर गये ही नहीं। इनके कुछ फुटकर पद ही जिस-तिस के पास मिलते हैं। रचना की सरसता और सूरदास नाम होने के कारण इनके अनेक पद सूरसागर में भी मिल गये हैं। इनका एक पद देखिये---

"नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपरि,
स्याम भुजा अपने उर धरिया।
करत विनोद तरनि-तनया-तट
स्यामा स्याम उमँगि रस भरिया॥
यौं लपटाइ रहे उर अंतर,
मरकत मनि कंचन ज्यों जरिया।
उपमा को घनदामिनि नाहीं,
कंदरप कोटि वारने करिया।
सूर मदन मोहन बल जोरी,
नँद नंदन वृषभानु दुलरिया॥"

निंबार्क मत

निंबार्क मतानुयायियों की भक्ति में परब्रह्म कृष्ण प्रकृतिरूप राधा के साथ उपास्यदेव माने गये हैं। ब्रह्मा, शिव तथा अन्य अनेक देवता भी इनके उपासक हैं। निंबार्क भक्तों

में स्वामी हरिदास और श्रीभट्ट की रचना का अच्छा स्थान है। मीरा पर भी इस मत का कुछ प्रभाव बताया जाता है, परन्तु हमारी समझ में तो मीरा अपनी तल्लीनता की पुजारिन थीं। उनकी रचना में सिद्धांतपालन का दृष्टिकोण खोजना उचित नहीं प्रतीत होता। हरिदास और श्रीभट्ट के परिचय आगे दिये जाते हैं।

स्वामी हरिदास

स्वामी जी निंबार्क मतांतर्गत टट्टी संप्रदाय के संस्थापक थे। इन्होंने संवत् १६०० और १६२० के मध्य में कविता-रचना आरंभ की। ये वृंदावन में रहते थे और अपने समय के प्रसिद्ध पहुँचे हुए भक्त तथा संगीत-कला-कोविद माने जाते थे। किसी-किसी का मत है कि ये मुलतान के निकट उच्च ग्राम में उत्पन्न हुए थे; विरक्ति वृंदावन खींच लाई। वृंदावन से जाकर कुछ दिनों तक निधुवन में भी रहे। सम्राट् अकबर की सभा के प्रसिद्ध रत्न थे तथा गायनाचार्य तानसेन इन्हें गुरुवत् मानते थे। प्रसिद्ध है कि एक बार अकबर भी तानसेन के साथ इनका गाना सुनने गये थे, परंतु अपनी मौजी तबीअत में आकर इन्होंने गाना सुनाने से इन्कार कर दिया था। फिर तानसेन ने स्वयं सुनाना आरंभ किया और जान-बूझकर कुछ भूल भी कर दी। उसकी भूल को सुधारने की दृष्टि से फिर स्वामी जी ने स्वयं गाकर बताया। तानसेन की इस चालाकी से सम्राट को

स्वामी जी का संगीत सुनने का अवसर मिल गया। ये त्यागी स्वभाव के संत थे। इनके पद पढ़ने में तो ऊटपटांग से प्रतीत होते हैं, परंतु संगीत के साथ इनकी योजना अपना मोल स्वयं बता उठती है। इनके पदों के तीन संग्रह 'हरिदास जी को ग्रंथ, स्वामी हरिदास जी के पद और हरिदास जी की बानी' नामों से मिलते हैं। यह इनका एक पद देखिये—

"हरि कौ ऐसोई सब खेल।
मृग तृस्ना जग व्यापि रही है, कहूं बिजोरो न वेल॥
धन-मद जोबन-मद औ राज-मद, ज्यौं पंछिन में डेल।
कहि हरिदास, यहै जिय जानौ, तीरथ कौ सो मेल॥"

श्रीभट्ट

इनका जन्म संवत् १५६५ के लगभग माना जाता है। ये केशव काश्मीरी के प्रधान शिष्य थे। केशव निंबार्क मत के प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनकी कविता की भाषा सीधी-सादी है। 'युगलशतक' और 'आदिबानी' नाम की इनकी दो पुस्तकें मिलती हैं। ये अपने छोटे पदों के लिये प्रसिद्ध हैं। एक उदाहरण देखिये—

"बसौ मेरे नैनांन मैं दोऊ चंद।
गौर-बदनि वृषभानु-नंदिनी, स्याम बरन नँद नंद॥
गोलक रहे लुभाय रूप में, निरखत आनंद कंद।
जन श्रीभट्ट प्रेम रस-बंधन, क्यों छूटै दृढ़ फंद॥"

षष्ठ अध्याय

प्रेम-तन्मयता के भक्ति-भावी दो कवि—

(मीराबाई और रसखान)

पिछले सभी कवियों के परिचय से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे प्रत्येक समय किसी न किसी मतविशेष के सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के लिये—अपने विचारों का प्रचार करने के लिये ही कविता का आश्रय ग्रहण करते रहे थे। पुष्टिमार्गी, राधावल्लभी, गौड़ीय सम्प्रदायी और निंबार्की—ये सभी जो कुछ कहते थे उसमें मतवाद की झलक स्पष्ट रहती थी। भक्तिकाल के सभी कवि और विशेषकर कृष्ण-भक्त कवि किसी न किसी संप्रदाय के साथ संबंधित थे, परंतु इसी काल में हमारे साहित्य में दो आत्माएं ऐसी भी अवतरित हुईं जिनका किसी सम्प्रदायविशेष से कोई गठबंधन नहीं था। इनका संबंध केवल मोहनी सूरत, सांवरी सूरत, गिरधर गोपाल के साथ था। मीरा और रसखान इनके नाम थे। इनका सारा स्वर एक प्रेम की तन्मयता में तरंगित रहा है। आगे हम इन्हीं दोनों के संबंध में कुछ विचार करेंगे।

भक्तप्रवरा मीराबाई

(परिचय)

मीरा का जन्म जोधपुर राज्यांतर्गत चोकड़ी नामक गांव में संवत् १५६० के लगभग हुआ था। इनके पिता का नाम राव रत्नसिंह था और बाबा का राव दूदा। जोधपुर को बसाने वाले प्रसिद्ध राव जोधा जी मीरा के पड़बाबा थे। इनके पिता राव रत्नसिंह को मेड़ता की ओर से १२ गांव जागीर में मिले थे और चोकड़ी भी इन्हीं में से एक था, इसलिये मीरा ने अपने को मेड़तिया के नाम से प्रकट किया है—

"मेड़तिया घर जनम लियो है, मीरा नाम कहायो।"

बचपन में ही इनकी माता का देहांत हो गया, इसलिये बाबा राव दूदा ने इन्हें मेड़ता ही बुला लिया। दूदा पक्के वैष्णव थे। मीरा पर इस वैष्णवता की पूरी-पूरी छाप लगी। इस वैष्णवता ने मीरा को भी परम भक्त बना दिया। एक बार दूदा जी के पास कोई वैष्णव साधु आया। उसके पास कृष्ण की एक सुंदर मूर्ति थी। मीरा इस मूर्ति को लेने के लिये मचल पड़ीं। विवश होकर साधु ने मूर्ति दे दी। यही मूर्ति मीरा की पवित्र भक्ति का एक-मात्र आधार बन गई।

संवत् १५७२ में दूदा जी भी परलोक सिधार गये और इस घटना के एक वर्ष पश्चात् चित्तौड़ के महाराणा राणा संग्रामसिंह के बड़े पुत्र कुंवर भोजराज के साथ मीरा का विवाह

संपन्न हो गया। यह राणा संग्रामसिंह बड़े प्रसिद्ध योद्धा थे जिन्होंने बाबर के साथ फ़तहपुर सीकरी के युद्ध में शरीर पर ८० घाव खाये थे। ख़ैर, मीरा का विवाह हो गया और वे पतिगृह चली गईं, परंतु ससुराल वालों से उनका निभाव न हो सका। एक तो चित्तौड़ का राजवंश शैव था, फिर, मीरा की सास भी कुछ कठोर स्वभाव की थी, और इधर मीरा अभी १२ वर्ष की बच्ची ही थी; हाव-भाव द्वारा पति को रिझा सकने की कला का ज्ञान बेचारी को कहां रहा होगा! वह तो अब भी कन्हैया की उसी मूर्ति को लेकर ध्यानमग्न रहा करती थीं जो कभी साधु से प्राप्त हुई थी और जिसे अपने साथ लेकर ससुराल पधारी थी। सारांश यह कि ससुराल में मीरा की निभ न सकी। इतने पर ही बात रह जाती तब भी अच्छा था, परंतु दैव को यह दुःख-भरा सुहाग भी न भाया। विवाह के दस वर्ष के भीतर-भीतर मीरा के सास-ससुर और पति की मृत्यु हो गई। विवाह के बारह वर्ष पश्चात् पिता राव रत्नसिंह भी खानवा युद्ध में बाबर के साथ जूझकर परलोक सिधार गये। सिर पर कोई न रहा गोद सूनी थी। मीरा का वैधव्य करुणा और निराशा की सीमा का उल्लंघन कर गया। मीरा के इस निराधार जीवन ने अपने गिरधर से लौ लगाई। उस मूर्ति ने उन्हें सचमुच इस दुःखावस्था में भारी आधार दिया होगा। मीरा अपने अनन्य उपास्यदेव की प्रतिमा सामने रखकर उनके गुणों का गान करती और नाचा करतीं। इसी प्रकार दिन बीतने लगे। मीरा

की भक्ति की यह तन्मयता दिन-दिन बढ़ती ही गई। उनके भक्त-जीवन की यह कथा धीरे-धीरे सारे मेवाड़ में फैलती गई और चित्तौड़ साधु-संतों का एक तीर्थ बनने लगा। मीरा की प्रेम-भक्ति का नाम सुनकर साधु-संत दर्शनों के लिये चित्तौड़ आने लगे। इस समय चित्तौड़ का सिंहासन विक्रमादित्य के आधीन था—उसी विक्रमादित्य के जो इतिहास में अपने दुराचरण के लिये प्रख्यात है। मीरा के पास संत-महंत जन का आगमन इन्हें अखरा; मीरा के चरित्र पर शंका हुई। वैसे भी साधु-संतों का इस प्रकार रणवास में आना-जाना राजकीय मर्यादा के विरुद्ध था। परिवारभर ने मीरा को समझाया रोका, परंतु भक्ति की तन्मयता में लीन मीरा अपने पथ पर अचल और अटल रहीं। कृष्ण-प्रेम उन पर इतना चढ़ चुका था कि समझाने वालों को उन्होंने कहकर टाल दिया—

"राजपाट भोगो तुम्हीं, हमें न तासूं काम।"

मीरा समझाये न समझीं तो राणा ने उन्हें कष्ट देने आरंभ कर दिये। दयाराम पांडेय के हाथों चरणामृत के बहाने विष का प्याला भेजा गया। मीरा ने प्याला पी लिया पर बाल भी बांका न हुआ। प्रसिद्ध है कि फिर राणा जी ने पिटारे में विषधर सांप भिजवाया तो वह सालिग्राम की मूर्ति बन गया। और फिर, मीरा को शूलों की सेज पर सुलाया गया तो वह फूलों की सेज बन गई। मीरा की यह कष्टकथा पीहर वालों के कानों तक पहुंची तो इन्होंने मीरा को अपने पास बुला लिया।

इसके पश्चात् वे पीहर वालों के साथ तीर्थ-यात्रा को गई। कहते हैं कि राजपरिवार द्वारा सताये जाने पर उन्होंने तुलसीदास जी को भी अपनी कष्टकथा सुनाई थी और उन्होंने मीरा को अपने पथ पर अटल रहने का संदेश दिया था और तभी वे तीर्थ-यात्रा को निकली थीं।

जीवन के अंतिम दिनों में द्वारका में थीं। इस समय चित्तौड़ का सिंहासन राणा उदयसिंह के हाथों में था। राज्य पर विपत्तियों पर विपत्तियां आ रही थीं और इन सब विपत्तियों का कारण समझा जा रहा था मीरा का चित्तौड़-परित्याग। राणा ने मीरा को लौटा लाने के लिये कई संदेश भेजे, परंतु वे लौटकर न आईं और संवत् १६२० में वहीं पर उनकी मृत्यु हो गई।

मीरा के काव्य में भक्ति की तन्मयता

मीरा-रचित चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—१—नरसी जी का मायरा, २—रागगोविंद, ३—रागसोरठ के पद, ४—गीतगोविंद की टीका। इनमें अंतिम रचना अप्राप्य है। गीतगोविंद की एक टीका महाराणा कुंभा-रचित भी है। संभवतया भूल से किसी ने इसे ही मीरा-रचित मान लिया हो। अस्तु! मीरा का यह गेय साहित्य राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा में प्रस्तुत हुआ है। इसमें कुछ प्रभाव गुजराती का भी वर्तमान है। डा० टेसीटरी

के मतानुसार १५वीं शताब्दी तक गुजरात और पश्चिमी राजस्थान में एक ही भाषा बोली जाती थी। बहुत संभव है, इसी कारण मीरा की भाषा में गुजराती का मेल हो गया हो। वैसे एक बात और भी है: गुजरात में आज भी मीरा के गीत घर-घर गाये जाते हैं। संभव है इन गीतों का संग्रह गुजरात में प्रचलित गीतों के आधार पर हुआ हो। फिर, मीरा स्वयं भी तो गुजरात में रही थीं। कुछ भी हो, मीरा के पदों में ब्रजभाषा के साथ गुजराती और राजस्थानी का मेल है।

मीरा की समस्त रचना गेय है। भक्ति की तन्मयता में ये सभी पद मीरा ने गिरधर गोपाल के सम्मुख नृत्य करते हुये सुनाये होंगे। मीरा के सब जग-नाते टूट चुके थे, केवल गिरधर ही उनके अपने थे। उनके सामने मर्म की कहने में मीरा ने कुछ भी छिपाया नहीं होगा। लाज भी कैसी—

"नाचन लगी जब घूंघट कैसो ?"

लोकलाज को भी जब "तिनका ज्यूं" तोड़ दिया तो फिर भय ही क्या था ? मीरा की दृष्टि में एक-मात्र कृष्ण ही तो पुरुष थे। वृंदावन में जब मीरा जीवगुसाईं से मिलने गईं तो जीवगुसाईं के यह कह देने पर कि "मैं स्त्रियों से नहीं मिला करता", मीरा ने उत्तर दिया था कि "मुझे पता नहीं था कि गिरधर के और भी पट्टीदार हैं। मैंने तो समझा था कि एक गिरधर ही पुरुष हैं, शेष सभी सखीरूप हैं।" मीरा के चरित्र का गौरव इस घटना ने स्पष्ट कर दिया था।

अपने प्रियतम को रिझाने में लोकलाज भी कैसी! उन्होंने प्रेम की तल्लीनता में ही सब कुछ कहा है। इस तल्लीनता में न उन्हें भाषा की सजावट का ध्यान रहा है और न छंदशास्त्र के नियमों का। न उन्हें अलंकारों की चिंता रही है और न अन्य किसी भाषा-रचना संबंधी बंधन की। परंतु हां, उनके यहां रस और संगीत में तन्मयता का अपूर्व संयोग रहा है। मीरा की कविता किसी सिद्धांत-विशेष का प्रतिपादन करने नहीं चली थी, उसमें तो केवल प्रेम की तल्लीनता का उद्रेक था। उनकी वाणी तो 'प्रेम की पीर" का अनुभव कराने चली थी—वही प्रेम की पीर जो कुल-कान का ध्यान कभी नहीं किया करती। तभी तो ध्रुवदास ने अपनी भक्त-नामावली में मीरा के परिचय में ये शब्द लिखे थे—

"लाज छांड़ि गिरिधर भजीं, करी न कछु कुल कानि।
सोई मीरा जगविदित, प्रगट भक्ति की खानि॥"

संसार ने मीरा की इस गति-विधि को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा था, परंतु मीरा ने भी इसकी कोई परवाह नहीं की थी। लोक-लाज प्रेम-पथ का सबसे प्रबल बाधक है, जिसे उसने संसार को सुनाकर तोड़ दिया था। उसकी व्यंजना इस पद से प्रकट होती है—

"श्री गिरिधर आगे नाचूंगी।
नाचि-नाचि पिय रसिक रिझाऊं, प्रेमी जन को जाचूंगी।

लोक लाज कुल की मरजादा, या में एक न राखूंगी।
पिय के पँलगा जा पौढ़ूँगी, मीरा हरि रंग राचूंगी ॥"

विश्व क्या कहता है, इसकी चिंता तो वह करेगा जिसने किसी की चोरी की हो। मीरा ने तो प्रिय का प्रेम ठोक-बजा कर पाया था—

"माई री मैं तो लियो गोविंद मोल ।
कोई कहै छाने, कोई कहै चौड़े कै, लियो री बजंता ढोल ॥
कोई कहै मुंहघो कोई कहै सुंहघो, लियो री तराजू तोल ।
कोई कहै कारो कोई कहै गोरो, लियो री अमोलक मोल ।
या ही कूं सब लोग जाणत, लियो री आंखी खोल ।
मीरां कूं प्रभु दरसण दीज्यौ, पुरब जनम को मोल ॥"

इस लोक-लाज की त्याग-भावना में संसार ने चाहे कुछ भी अनुमान लगाये हों, परन्तु मीरा के पदों से इतना तो स्पष्ट ही है कि उसमें जयदेव और विद्यापति का-सा अश्लीलता-मिश्रित संभोग शृंगार नहीं अपनाया गया है। लोक-लाज-त्याग की भावना तो केवल पति-प्रणय-भक्ति की एक-मात्र अभिव्यक्ति ही थी, अन्य कुछ भी नहीं। इसी उत्कट माधुर्य-भावना ने मीरा को प्रभु के साथ एकीकरण-प्राप्ति में सहायता दी। यहीं मीरा को प्रभु-आवन का भान हुआ—

"सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।"

और यहीं तो पिय-मिलन की मस्ती की अनुभूति प्राप्त हो पाई—

“[illegible] स्वामी जी।”

ध्यान रहे इसी रहस्य-भावना ने सांवरिया में घट-घट-व्यापी राम की अभिव्यंजना की होगी।

मीरा की माधुर्य-भाव-मिश्रित भक्ति में भी रहस्यात्मकता उत्पन्न हुई है। अपने सांवरिया का साक्षात्कार करके मीरा की आत्मा पुकार उठी है—

“मैं जाण्यो नाहीं प्रभु को मिलण कैसे होइ री।
आये मेरे सजना फिरि गये अँगना, मैं अभागिन रही सोइ री॥”

यह सोना वही सोना है जिसे सूफी कव्वालों में “हाल” कहा जाता है और रहस्यवादियों में “मिलन-मूर्छा।”

मीरा ने अपने कई पदों में रैदास को गुरु कहकर पुकारा है। कई विचारकों ने दोनों के समकालीन होने में संदेह उठाकर इस संबंध को असत्य ठहराने का प्रयत्न किया है। परंतु यह तो इतिहाससिद्ध बात है कि रैदास मीरा के गुरु थे। हां, वे चमार थे लेकिन इससे उनकी गुरुआई के मार्ग में कोई बाधा नहीं पड़ सकती थी। चैतन्यदेव जी ने कह दिया था—

“किवा न्यासी, किवा विप्र, शूद्रकेन नय।
जे कृष्ण तत्ववेत्ता, सोई गुरु हय॥”

खैर! यही गुरु आगे चलकर “जोगी” के नाम से संबोधित किया गया है। विवेचकों ने इस जोगी शब्द से अनुमान के घोड़े दौड़ाकर ऐसा सिद्ध करने का प्रयत्न किया

है कि योगी रैदासेतर कोई महात्मा मीरा का गुरु होगा। परंतु अपना तो विचार है कि जिस प्रकार कबीर के यहां गुरु शब्द आदि में साधारण अर्थों में रामानंद के लिये प्रयुक्त होकर आगे ईश्वर का वाचक हो गया है, उसी प्रकार मीरा के यहां भी पहले महात्मा फकीर रैदास के लिये और फिर आगे व्यापक-ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसी के लिये तो मीरा ने कहा है—

"जोगियाड़ी प्रीतड़ी है दुःखड़ारो मूल।
हिलमिल बात बनावत मीठी, पीछे जावत भूल॥"

इसी के वियोग में मीरा की परिलिप्त आत्मा ने पुकारा है :

"जोगिया, कहां गया नेहड़ा लगाय।"

तथा

"जोगिया जी निसदिन जोऊं बाट।"

यही थी मीरा की भक्ति की तन्मयता जिसने उसके स्वाभाविक अबलापन में संसार की लांछनाओं के विरुद्ध ताल ठोंककर खड़े होने का मेवाड़ोचित पौरुष भरा। यही थी वह तन्मयता जिसने मीरा में मोहजन्य प्रेम के स्थान पर वैराग्य को और वैराग्य के स्थान पर प्रेम की पावनता को जगाया। हमारी इस धारणा को समझने के लिये मीरा का यह पद पर्याप्त होगा—

"मेरा तो राम नाम दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई॥
माता छोड़ी पिता छोड़े, छोड़े सगा सोई।
संतन संग बैठि-बैठि, लोकलाज खोई॥
संत देखि दौड़ आई, जगत देखि रोई।
प्रेम आंसु डार-डार, अमर बेल बोई॥
मारग में तारग मिले, संत-राम दोई।
संत सदा सीस ऊपर, राम हृदय होई॥
अंत में से तंत काढ्यो, पीछे रही सोई।
राणा भेज्या विष का प्याला, पीते मस्त होई॥
अब तो बात फैल गई, जाणै सभी कोई।
दास मीरा लाल गिरधर, होनी हो सो होई॥"

रस-खानि—रसखान

रसखान का जन्म संवत् १६१५ के लगभग माना जाता है। ये दिल्ली के एक पठान सरदार थे। इन्होंने अपने आपको शाही वंश का लिखा है—

"देखि गदर, हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा-बंस की, ठसक छोड़ि रसखान॥"

(प्रेम-वाटिका)

"दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" में इनका वर्णन मिलता

है। वार्ता में लिखा है कि ये पहले एक बनिये के लड़के पर आसक्त थे। उस पर इनका इतना मोह था कि उनका जूठा तक खाया करते थे। एक दिन चार वैष्णवों ने बात करते हुए कहा कि कृष्ण में ऐसी प्रीति होनी चाहिये जैसी बनिये के लड़के पर रसखान की है। यह बात रास्ते जाते रसखान के कानों में भी पड़ गई। उसने वैष्णवों से पूछा—कृष्ण का रूप कैसा है? तो उन्होंने उत्तर में कृष्ण जी का चित्र दिखा दिया। बस इस रूप-माधुर्य के पीछे उसी दिन से बनिये के लड़के की प्रीति छोड़ दी। उसी रूप-माधुरी में विह्वल हुए रसखान गोकुल चल आये। उनकी सच्ची लगन और उत्कट प्रेम को देखकर विट्ठलाचार्य ने उन्हें अपना लिया। उनकी भक्ति-भावना के सामने उन्होंने विधर्मी-पन और विजातीयता का ध्यान तक भी नहीं किया। और रसखान भी यह भूल ही गये कि वे किधर आ गये हैं। बादशाह के पास चुगली पहुंची कि रसखान तो काफिर हो गये हैं, परंतु रसखान को इसकी तनिक भी चिंता नहीं हुई। उसी समय उन्होंने कहा था—

"कहा करै रसखान को, कोऊ चुगल लबार।
जो पै राखन हार है माखन-चाखन-हार॥"

रसखान की रसिकता के संबंध में और भी अनेक प्रवाद प्रचलित हैं। इन प्रवादों में भले ही और सत्यता चाहे कुछ भी न हो, परंतु इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि उनमें प्रेम की तन्मयता थी। उन्होंने सांसारिक प्रेम का पूरा-पूरा अनुभव

प्राप्त किया था और उसी के द्वारा उन्हें अलौकिक प्रेम की अनुभूति भी प्राप्त हुई थी।

रसखान-रचित केवल दो पुस्तकें मिलती हैं—'प्रेम-वाटिका' और 'सुजान-रसखान'। अपनी रचना में इन्होंने अन्य कृष्ण-कवियों की भांति गीति-काव्य का आश्रय न लेकर कवित्त-सवैयों का ही प्रयोग किया है। इनकी-सी चलती, सरस और आडंबर-मुक्त भाषा केवल घनानंद को छोड़कर कृष्ण-भक्त कवियों में अन्य किसी की भी नहीं है। प्रेम की सरसता से सिक्त इनका सवैया अपने समय का एक परमप्रिय छंद बन गया था। इस सरसता का अनुमान केवल इसी से लगाया जा सकता है कि उस समय के लोगों ने सवैये का नाम ही कवि रसखान के नाम पर "रसखान" रख छोड़ा था। लोग प्रायः—एक सवैया तो सुनाइये—न कहकर केवल यही कहा करते थे—एक रसखान तो सुनाइये!

रसखान की रचना तो बहुत थोड़ी है। उनकी प्रेमवाटिका में लगभग ५२ दोहे हैं और सुजानरसखान में लगभग १३० दोहे, सोरठे, सवैये और घनाक्षरियां। परंतु इतनी स्वल्प रचना में भी प्रेम और भक्ति का जैसा सुंदर समन्वय हुआ है, वैसा कदाचित् ही कोई अन्य कवि कर पाया हो। प्रेमानुभूति का जो चित्र रसखान की रचना में प्राप्त होता है वह हमारे साहित्य की एक अनमोल वस्तु है। भावों की कोमलता और विचारों की सुस्पष्टता रसखान की अपनी ही वस्तुएं हैं।

अपनी रचना-माधुरी में रसखान अपने उपास्य देव से नैकट्य पाये से प्रतीत होते हैं। विचार-दृष्टि से वे पक्के वैष्णव थे। उनकी रचना में उनका नाम पढ़े बिना तो कोई यह पहिचान नहीं सकता कि रसखान जाति के मुसलमान रहे होंगे। इसी प्रेम-तल्लीनता को देखकर तो भारतेंदु ने कहा था—

"इन मुसलमान हरिजनन पै
कोटिन हिंदुन वारिये ॥"

रसखान किसी पंथविशेष के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत नहीं हुए, परंतु फिर भी उनमें अपने कृष्ण के वियोग की तड़प अन्य किसी से कम दारुण नहीं दिखाई दी है। उनका वियोग परितप्त गोपियों से कम तो हीन नहीं रखता। सुजानरसखान का पहला ही सवैया है—

"मानुस हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन ॥"

इस पद में रसखान की मिलनोत्सुकता मूर्तिमान हो उठी है। अपने प्रिय की प्राप्ति के लिये भला क्या अदेय है? इसी भावना की परिचिति रसखान के इस पद में कितनी सुंदरता से स्पष्ट हुई है—

"यह लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूं पुर को तज डारौं।
आठहुं सिद्धि नवो निधि को सुख नंद की धेनु चराय बिसारौं ॥"

इतना ही क्या, प्रिय से संबंध रखने वाली प्रत्येक ही वस्तु प्रेमी के लिये महत्व रखती है; आगे की दो पंक्तियाँ इसी का स्पष्टीकरण है—

"रसखान कबौं इन आँखिन सौं ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिकई कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥"

प्रिय के महत्व को अपने दैन्य से बढ़ा देना भक्त के हृदय की भक्ति के गौरव का सच्चा स्पष्टीकरण है। रसखान ने इसे अपनी एक-स्वर-वाणी में गुंजा दिया है—

"काग के भाग बड़े सजनी, हरि हाथ सौं लै गयो माखन रोटी।"

रसखान की भाषा सरल तथा प्रसाद-गुण-परिपूर्ण ब्रजभाषा है। भाव-गांभीर्य उनमें कूट-कूटकर भरा है, परंतु शब्दाडंबर की उनमें कहीं झलक भी नहीं आने पाई। क्या भाषा और क्या भाव, दोनों ही की दृष्टि से रसखान का स्थान निराला है, और सबसे निराला है उनकी भक्ति की तन्मयता का आलोक। इसी तन्मयता ने तो रसखान को रस की खानि बना छोड़ा।

☆

परिशिष्ट

भक्ति-युगीन चेतना के अन्य साधारण कृष्ण-कवि

भक्ति-युग की चेतना का प्रभाव काव्य-साहित्य पर इतना प्रगाढ़ रहा कि उसकी छाया से कोई विरला ही बच पाया। रंक से लेकर रायों तक ने इस भार को वहन किया। क्या विरागी और क्या विलासी, कोई भी तो उससे बचा न रहा। पीछे, हम उन कवियों का उल्लेख कर आये हैं जो या तो मत-पंथ के नाते कृष्ण-चरित्र का गान करते रहे या वे कवि जिनमें कृष्ण-प्रेम-तन्मयता का विकास हो पाया था। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कवि ऐसे भी थे जो इन परिधियों से बाहर के थे, कविता भी उनके मनमौजीपन का विषय थी, परंतु दुनिया की देखा-देखी जिनमें कभी-कभी कृष्ण-प्रेम उमड़ आता रहा था। आगे हम ऐसे ही कुछ कवियों का संक्षिप्त ढंग पर उल्लेख करेंगे।

महापात्र नरहरिबंदीजन—इनका समय संवत् १५६८ से १६६७ तक के मध्य का है। ये अकबर के दर्बार में आया-जाया करते थे। उन्हीं ने इन्हें महापात्र की उपाधि से विभूषित

किया था। वैसे ये असनी के रहने वाले थे। शाही दर्बार में अच्छा मान था। कहते हैं, इनके एक पद पर बादशाह ने गोवध बंद करा दिया था। भक्ति संबंधिनी इनकी रचना 'रुक्मिणी-मंगल' बताई जाती है। इसके अतिरिक्त 'छप्पयनीति' भी सुनने में आती है।

नरोत्तमदास—ये कस्बा बाड़ी जिला सीतापुर के निवासी थे। लगभग संवत् १६०० में वर्तमान थे। इनका लिखा 'सुदामा-चरित्र' ग्रंथ कृष्ण-प्रेमियों के लिये बड़ी प्रेम की रचना है। यद्यपि यह छोटी-सी रचना है, तथापि अत्यंत सरस और हृदय-विमोहक बन पड़ी है। इसकी भाषा प्रवाहमयी और व्यवस्थित है। सुदामाचरित्र लोगों में इतना प्रिय हुआ कि उसके अनेक पद आज भी लोगों के मुखों से सुने जाते हैं। इस ग्रंथ में कारुणिकता कूट-कूटकर भरी है। इसके अतिरिक्त इनका लिखा 'ध्रुवचरित्र' भी सुनने में आया है।

रायबरेली के एक हलवाई **लालचदास** ने संवत् १५८५ में 'हरिचरित' और १५८७ में 'भागवत दशम स्कंध भाषा' नाम से दो ग्रंथों की अवधी-मिश्रित भाषा में दोहे-चौपाइयों में रचना की। दोनों रचनाएं साधारण कोटि की हैं।

इसी प्रकार प्रसिद्ध कवि केशवदास के बड़े भाई **बलभद्र** मिश्र ने भी अपने अन्य कई ग्रंथों के अतिरिक्त "गोवर्द्धन

सतसई टीका" की भी रचना की। इनकी रचना परिमार्जित तथा प्रौढ़ है। समय इनका संवत् १६०० के लगभग ठहरता है।

इसी समय अकबर के प्रसिद्ध दर्बारी रत्न **अब्दुर्रहीम खानखाना** ने कृष्ण संबंधी काव्य-रचना प्रस्तुत की। उनका लिखा रासपंचाध्यायी महत्वपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है। रहीम का जन्म संवत् १६१० में हुआ था। रहीम अरबी, फारसी और तातारी के अतिरिक्त हिंदी-संस्कृत पर भी अच्छा दावा रखते थे। अवधी और ब्रजभाषा, दोनों ही काव्य-भाषाओं में उन्हें समान कुशलता प्राप्त थी। इन जैसी भाषा की मार्मिकता उस काल के कम ही कवियों को प्राप्त हो पाई है।

अकबरी दर्बार में रहने वाले स्वदेशाभिमानी कविवदान्य **पृथिवीराज** ने भी इसी समय "वेली-किसन-रुकमणी री" नामक मार्मिक रचना प्रस्तुत की थी। ये वही पृथिवीराज थे जिन्होंने सम्राट् अकबर से संधि करने के लिये झुकते हुए महाराणा प्रताप को उत्तेजनाभरा पत्र लिखकर स्वतंत्र रहकर आन पर मर मिट जाने का संदेश दिया था। इनके ग्रंथ में राजस्थानी-मिश्रित भाषा में श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का वर्णन है।

भक्त-शिरोमणि **तुलसीदास** ने भी 'कृष्णगीतावली' लिखकर अपने हृदय की उदारता का परिचय दिया, परंतु गीतावली के पदों में उनकी कविता किसी कौशल का प्रकटीकरण

न कर सकी, क्योंकि उनका अंतर्हंस तो रामचरित के मोती चुन चुका था। कुछ भी सही, कृष्ण-चरित्र का मोहक रूप हिंदी के महान् गौरव तुलसीदास की दृष्टि में भी गौरव पा ही गया।

पिहानी जिला हरदोई के **कादिरबख्श** (जन्म संवत् १६३५) भी इसी समय में हुए जिन्होंने वल्लभीय संप्रदाय के रंग में डूबकर कृष्ण-भक्ति के सुंदर रस-रिक्त फुटकर पद रचे। **आलम** (जन्म संवत् १६२०) और उनकी प्रिया तथा सहचरी **शेख रंगरेजन** ने भी अपने सरस फुटकर पदों द्वारा कृष्णकाव्य का भंडार भरा।

ताज—का नाम भी कृष्ण-प्रेमियों में बड़े गौरव का है — वही ताज जिसने अपने सांवरे सलोने के मधुर वेश पर लाज का त्याग कर कृष्ण में नेह लगाया था। ताज का जन्म संवत् १६५२ के लगभग अनुमाना जाता है। उनका अधिक परिचय तो ज्ञात नहीं, परंतु प्रसिद्ध गुजराती विद्वान् गोविंद गिल्लाभाई का कथन है कि वे करौली (मेवाड़) राज्य की निवासिनी थीं। जाति के मुसलमान होने के कारण परम-वैष्णव ताज को मूर्ति-उपासक वैष्णवों ने उनकी प्रेमोपासना में बाधा अवश्य डाली होगी; सहधर्मियों ने भी उन्हें फटकारा होगा; लोकलाज का प्रश्न भी आड़े आया ही होगा, परंतु उस मुसलिम-मीरा ने जिस अटल उत्साह से काम लिया होगा उसका कितना गौरव होगा! उनके दुःख-दर्द की व्यंजना इसी एक पद में अनुभव हो उठी है—

"सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी,
तुम दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूंगी मैं।
देवपूजा ठानी मैं निवाज हू भुलानी,
तजे कलमा कुरानी साडे गुनन गहूंगी मैं॥
स्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिये,
तेरे नेह दाग में निदाग हो दहूंगी मैं।
नंद के कुमार कुरबान तांडी सूरत पै,
ताडे नाल प्यारे हिंदुवानी हो रहूंगी मैं॥"

ताज का अन्य कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं। अपनी रचना में वे पंजाब-निवासिनी जान पड़ती हैं। उनके रचे लगभग दो सौ पद मिलते हैं जो कि गोविंद गिल्लाभाई के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

यह भक्ति का उन्मुक्त द्वार था जिसमें स्त्री, शूद्र और विधर्मी के रूप से भी धर्म के कल्पित बंधन उड़ा दिये जा रहे थे।

अधिक क्या कहें, सरस भक्ति का यह मोहक पथ इतना आकर्षक रहा कि तत्कालीन जगत्प्रसिद्ध सम्राट् अकबर तक भी उसके आनंद की अनुभूति में पद-रचना करते रहे। अकबर का कला-प्रेम अति प्रसिद्ध है। उनके दर्बारी नवरत्नों से उनकी कला-प्रियता का पता स्पष्टता से चल जाता है। उनकी इस कला-प्रियता का कुछ न कुछ प्रभाव उत्तराधिकारी सम्राटों में भी पीढ़ियों तक बना रहा

इस प्रकार हम देखते हैं कि पराधीन हिंदू जाति ने अपने दुःख-दर्द के दिनों में कृष्ण-प्रेम की माधुरी से बड़ा भारी सहारा पाया था। कृष्ण-प्रेम की सरस-माधुरी का यह शीतल स्रोत विक्रम की १५वीं १६वीं और १७वीं शताब्दी में अजस्र रूप से बहकर भक्तों, रसिकों, निराश्रितों से लेकर राजों-महाराजों तक को रसाप्लावित करता रहा।

☆

द्वितीय दर्शन

शृंगार-युगीन कृष्ण-कवि

अलंकृत भक्तिकाव्य की आधार-भूमि

शृंगार युग में हमारे काव्य की पृष्ठ-भूमि एकदम परिवर्तित हो गई। भक्ति का स्थान शृंगार ने ले लिया। आध्यात्मिकता के स्थान पर विलास ने शक्ति संभाल ली। रीति-विवेचन के नाम पर नायक-नायिकाओं के भेदोपभेदों की बारीकियां दिखाने में ही कविगण की शक्ति व्यय होने लगी। पर एक बात बड़े मजे की रही कि शृंगार का सारा उठान होता रहा राधा और कृष्ण के सौंदर्य-भरोसे पर ही। साहित्य का वह सौंदर्य जो एक दिन आध्यात्मिक प्रेरणा उत्पन्न करता था वही रीति अथवा शृंगारिकता को उत्साह देने लगा। ऐसा होने में शायद भक्ति-कालीन रूपमाधुरी भी कुछ जिम्मेदार थी। नारी के जिस रूपमाधुर्य पर भक्ति-प्रेरणा का भरोसा किया गया था उसने साहित्य की पावन धारा विलासमय शृंगार के द्वार तक ही

नहीं अपितु अश्लीलता की दुर्गंधित गलियों तक में बिखरा दिया शृंगार-कालीन कवियों के शृंगार-पथ-प्रकाश-स्तंभ देव, बिहारी, मतिराम, कुलपति मिश्र, पद्माकर, ग्वाल आदि ने कृष्ण के मोहक सौंदर्य से लेकर राधा की काम-क्रीड़ा और गोपियों के विलास-मय जीवन की गाथाओं तक के सभी रसीले रहस्य खोज डाले। स्वकीया की अपेक्षा परकिया की क्रीड़ाओं में अधिक आनंद लेने वाले कवियों की कविता के दौर-दौरे में भक्ति-काव्य का स्वरूप सुरक्षित रह सकना असंभव था। इसीलिये शृंगार-युगीन भक्त-कवियों की पवित्र अंतःप्रेरणा में कुछ न कुछ झलक रीति-विषयक पड़ ही गई, परंतु ये शृंगारिक धारा के गोताखोर भी भक्ति-परंपरा से निर्मुक्त नहीं हो पाये थे। संभवतया कविता-सौंदर्य के बनाव-बिगड़ाव का आधार इनके मस्तिष्क में भी राधा-कृष्ण का वरदान और अभिशाप ही रहे हों। तभी तो रीति के परम पुजारी मंगलाचरण में इन शक्तियों का स्मरण करते ही रहे। और बिहारी जैसे रसिया ने तो प्रभु-प्रेम की स्मृति का प्रयोग गुनाह की जिंदगी के मध्य में रोजे-नमाज की तरह किया है। बहुत दूर तक तो उनकी सतसई में हर दस दोहे के पश्चात् एक दोहा भक्ति-विषयक आता रहा है। पहले सैंकड़े के उत्तरार्द्ध में यह क्रम ठीक तो नहीं निभ सका है, परंतु फिर भी, बीच-बीच में गुनाहों के प्रायश्चित्तों के रूप में नाम-स्मरण कर ही लिया है। अभिप्राय यह कि यदि शृंगारकाल की भक्ति शृंगार से प्रभावित हुई तो इस काल का शृंगार भी भक्ति से कुछ न कुछ प्रभाव

होता ही चला। इस काल के जिन कवियों में काव्य की प्रेरणा भक्ति से आई वे भक्तिकाल में उत्पन्न हुए किसी न किसी संप्रदाय के अनुयायी अवश्य थे। इस सांप्रदायिक भावना से मुक्त रहने वाले जिन कवियों ने भक्ति संबंधी जो रचना की है उसमें उनकी भक्ति-प्रेरणा का प्राबल्य नहीं आ पाया है। इस प्रकार से इस काल के कृष्ण-कवियों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—१ भक्ति-प्रवाह-प्रधान, २—रीति-प्रवाह-प्रधान। भक्ति-प्रभाव प्रधान वालों में से प्रमुख नाम घनानंद-नागरीदास, अलबेली अली, चाचा हित वृंदावनदास, भगवत-रसिक, श्री हठी, ब्रजवासीदास, रसिकगोविंद तथा नारायण स्वामी का माना जा सकता है। इनके अतिरिक्त कालीदास त्रिवेदी, मंचित, ग्वाल कवि, सोमनाथ, चंदन, पद्माकर, गोकुलनाथ आदि के नाम दूसरे वर्ग में लिये जा सकते हैं। पहले वर्ग के कवियों में

प्रधानता भक्ति की रही। इसलिये उन्होंने प्रमुख रूप से कृष्ण-साहित्य प्रस्तुत किया। और दूसरे वर्ग वाले कवियों ने कृष्ण संबंधी रचना तो अवश्य प्रस्तुत की, परंतु उनके लिये यह पथ प्रमुख रूप में न रहकर गौण रूप में ही रह गया। इनकी प्रधान रचना शृंगारकाल का प्रभाव ही प्रमुख रूप से वहन करती रही। भक्ति की स्वाभाविक अनुभूति का सन्निवेश तो इस काल के भक्ति-प्रधान वर्ग में भी उच्चकोटि का नहीं बन पड़ा। भक्ति का आत्मसौंदर्य पक्ष इस काल में कहां लिया गया। केवल राधा और कृष्ण के बाह्य सौंदर्य का ही वर्णन होता रहा। और विषय-

वर्णना की दृष्टि से तो कहना चाहिये कि इस काल में कोई नः बात प्रस्तुत ही नहीं हो पाई: बस केवल वही पुराने कथनों क चर्वं-चर्वण होता रहा।

इस काल की भक्ति-कविता रीति की शृंगारिकता से प्रभाव लेकर चली। भक्ति-प्रधान कवियों ने किसी सीमा तक भक्ति की पावनता को बचाया भी, परंतु रीति के आचार्यों के हाथों में जाकर तो न कृष्ण ही सुरक्षित रह सके और न राधा ही। गोपियां तो पहले ही बदनाम हो चुकी थीं; फिर इस काल में तो उनकी चिंता ही कौन करता। रसिकों की "लीला" और "विहार"—वर्णना ने महाभारत के प्रसिद्ध नीति-वेत्ता कृष्ण को जमुना-कुंजों में लुच्चे-लफंगों की भांति चक्कर काटता दिखाने में ही कलम की कला की इतिश्री कर डाली। साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रय संबंध का स्पष्टीकरण आज के कवियों ने साक्षात कर दिखाया था। हमारे कथन का अभिप्राय यही है कि इस काल की मुगल-कालीन विलास-प्रियता ने हमारे साहित्य को इस मार्ग की ओर प्रगति देने में पूरा सहयोग दिया होगा। खैर, यह सभी कुछ हुआ, परंतु इस काल की भक्ति-कविता पर कुछ कलाविदों ने अच्छा रंग भी चढ़ाया। घनानंद, चाचा हित वृंदावनदास, पद्माकर, श्री हठी और गोकुलनाथ सचमुच काव्यकला के मंजे हुए खिलाड़ी थे।

भक्ति-युगीन कृष्ण-कवियों ने काव्य-रचना में ब्रजभाषा का प्रयोग किया था, परंतु इस युग में कुछ भक्तों ने अवधी का भी

प्रयोग किया। साथ ही एक परिवर्तन यह भी आया कि जहां भक्तिकाल में केवल गीति-रचना ही चलती रही थी वहां इस युग में प्रबंध-रचना का भी कुछ उद्योग हुआ; परंतु यह प्रबंध-रचना सफलता प्राप्त न कर सकी। कृष्ण-चरित्र में प्रबंध की कल्पना करने वाला तुलसी-सा कवि मिल कहां सका? इसी शृंगार के युग में कविता पर अलंकारों का भार तो लादा ही गया; साथ ही छंदों की विविधता ने भी कृष्णकाव्य में अच्छा स्थान प्राप्त किया। यों तो कवित्त, सवैया, रोला, दोहा और उल्लाला का कुछ प्रयोग तो भक्तिकाल में ही आ गया था, परंतु यहां इनको और भी गति मिली और साथ ही चौपाई, अरिल्ल तथा रूपमाला आदि ने भी अपना अच्छा स्थान बना लिया।

इस काल के कृष्ण-भक्तों ने कृष्णेतर अन्य देवी-देवताओं के प्रति भी सम्मान-भावना का प्रदर्शन किया। काली, भैरव, दुर्गा और शिव का भी दर्शन होता रहा। संभवतया ऐसा होने में तुलसीदास की विनीत भावना ही प्रेरक बन सकी हो। भक्तियुग के दिनों तक कृष्णकाव्य से भक्त और रसिये ही लाभ उठाते रहे थे, परंतु शृंगार-युग में आकर काव्यकला के विवेचकों ने भी उसी का सहारा ले लिया। शृंगारकाल का शायद ही कोई रीति ग्रंथकार ऐसा बचा होगा जिसने अपने ग्रंथ में राधा-कृष्ण की याद न की हो। रीति के अंतर्गत नखशिख, बारहमासे, अष्टयाम, नायिकाभेद तक ही में नहीं, रस और अलंकारों के

विवेचन तक में बांकेबिहारी की उपस्थिति अनिवार्य हो गई थी। अगले अध्यायों में इसी शृंगार-युग के कवियों और उनकी रचनाओं की जानकारी प्रस्तुत की जायेगी।

प्रथम अध्याय

शृंगार-युगीन भक्ति-प्रधान कृष्ण-कवि

इस युग में जो कवि कृष्ण-भक्त के रूप में प्रस्तुत हुए हैं, वे प्रायः किसी न किसी मत अथवा संप्रदाय से संबंधित थे। कुछ ऐसे भी थे जो इस मतवाद से ऊपर उठकर कृष्ण की सर्वमान्य एक-मात्र भगवद्शक्ति के पुजारी के रूप में आये। कुछ भी सही, परंतु भक्ति-प्रधान कवियों की दृष्टि में कृष्ण का महत्व एक उपास्य देव के तुल्य ही था। सैद्धांतिक मतभेद के रहते हुए उन सभी की दृष्टि में कृष्ण सर्वकला-संपन्न विष्णु-अवतार अवश्य थे। भक्ति-प्रधान कवियों में घनानंद, नागरीदास, अलबेली अली, बख्शी हंसराज, चाचा हित वृंदाबनदास, भगवतरसिक, श्री हठी, ब्रजवासीदास, रसिकगोविंद, बाबा दीनदयाल गिरि, सहचरिशरण और नारायण स्वामी का नाम प्रसिद्ध है। आगे इन कवियों के संबंध में संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किये जाएंगे।

घनानंद

घनानंद का जन्म संवत् १७४६ के लगभग हुआ और मृत्यु

संवत् १७९६ में नादिरशाही हमले के अवसर पर हुई। ये जाति के कायस्थ थे और दिल्ली के मुगल बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले के मीर मुंशी थे। कहते हैं कि सुजान नाम की वेश्या से इनका भारी प्रेम था—इतना कि उसकी प्रत्येक आज्ञा का पालन बिना आगा-पीछा सोचे किया करते थे। घनानंद कवि होने के साथ-साथ अच्छे गवैये भी थे। साथियों को उनकी रसिकता खटका करती थी। एक दिन कुछ चुगलखोरों ने बादशाह से कह दिया—"बादशाह सलामत, मीर मुंशी साहब गाते बड़ा अच्छा हैं।" बादशाह ने उन्हें गाना सुनाने के लिए कहा। उन्होंने बहाना बनाकर टाल दिया। चुगलखोरों ने कहा—"ये आपके कहने से शायद न भी गायें। हां, यदि इनकी प्रेमिका सुजान कह दे तो तुरंत सुना दें।" अंत में ऐसा ही हुआ। सुजान बुलवाई गई और प्रेमिका का संकेत पाते ही इन्होंने गाना आरंभ कर दिया, परंतु एक भूल कर बैठे—गाते समय घनानंद का मुंह सुजान की ओर रहा और पीठ बादशाह की ओर। इस बेअदबी से बादशाह अप्रसन्न हो गये और इसी बेअदबी पर उन्हें नगर-निर्वासन मिल गया। प्रेमी घनानंद ने प्रेमिका के साथ चलने की प्रार्थना की, परंतु उसने बड़ी रुखाई से इन्कार कर दिया। इससे घनानंद को बड़ी ठेस लगी और वे विरक्त होकर वृंदावन में आ बसे। सुजान उन्हें इतनी प्रिय थी कि उसकी कठोरता देख लेने पर भी ये अपने पदों में उसका नाम अवश्य दिया करते थे। इस नाम की रसीली स्मृति उन्हें अब भी पूर्ववत् विह्वल करती थी। आगे चलकर उनके इस

लौकिक मोहजन्य प्रेम ने अलौकिक प्रेमानुभूति का आनंदास्वादन लिया। इसी समय उनका सुजान शब्द कृष्णवाची हो गया। कहते हैं, संवत् १७९६ में जब नादिरशाही सैनिक मथुरा की गलियों में रक्त बहा रहे थे, तो किसी ने उन्हें सलाह दी कि वृंदाबन में बादशाह का मीर मुंशी फकीरी वेश में रहता है; उसके पास बड़े अमूल्य रत्न और मणियां हैं; उसे जाकर लूटो। सैनिकों ने विरागी को जा घेरा और जर-जर-जर (धन, धन, धन) चिल्लाने लगे। घनानंद ने शब्द को उलटकर रज-रज-रज कहते हुए तीन मुट्ठी ब्रज की धूलि लेकर उन पर फेंक दी। इसके अतिरिक्त उनके पास और धरा भी क्या था! सैनिकों को क्रोध आया और उन्होंने इनका एक हाथ काट दिया। तंग करने पर भी जब कुछ न मिला तो वहां से चले गये। घनानंद ने मरते समय अपने रक्त से यह पद लिखा था—

"बहुत दिनानि की अवधि आस पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान कों।
कहि-कहि जावत छबीले मन भावन कों,
गहि-गहि राखत ही, दै-दै सनमान कों॥
झूठि बतियान की पतियानि तें उदास ह्वै कैं,
अब ना घिरत घन-आँनन्द नदान कों।
अधर लगे हैं आनि करिकै पायन प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान कों॥"

प्रेमी घनानंद साक्षात् रसावतार और ब्रजभाषा के प्रधान

कवियों में से थे। इनकी जैसी समर्थशील, शक्ति-संपन्न और विशुद्ध ब्रजभाषा लिखने में शायद ही कोई कवि कृतकार्य हुआ हो। प्रौढ़ता और माधुर्य में घनानंद अप्रतिम रहे। रसिक घनानंद ने साक्षात् वियोग-जन्य पीड़ा अनुभव की थी। उसका उनके यहां अलौकिक चित्र प्रस्तुत हुआ है। श्रृंगार-वर्णना में वियोग की जो अनुभूति है वह उनकी अपनी ही वस्तु है। उनकी रचना में उनकी हृदय-स्थिति प्रतिबिंबित हुई है। कवि प्रायः अंतर्वृत्तियों का निरूपण करने में लीन रहा है। प्रेम-वर्णना में बिहारी, देव, पद्माकर के जैसी बाहरी उछल-कूद यहां नहीं है। घनानंद की प्रेम-पीर की वर्णना में गांभीर्य और प्रशस्तता मिलेगी। प्रेमदशा की अभिव्यक्ति में उनका कौशल सदैव सफल रहा है, तभी तो यह कहा जाता है कि प्रेम की गूढ़ अंतर्दशा का उद्घाटन करने में उनकी जैसा सफलता अन्य कोई श्रृंगारी कवि प्राप्त नहीं कर सका। प्रेम की विषमता की अभिव्यक्ति में घनानंद ने विरोधाभास का आधार लिया है और हृदय की अपील को जोरदार बनाने के लिये लाक्षणिकता का सहारा। इसीलिये उनकी उक्तियां बलवती भी रही हैं।

सुजान के घनानंद लौकिक प्रेम की ओर से अलौकिक और अव्यक्त प्रेम की ओर झुके थे। सांसारिक स्वार्थपरता ने उनकी आंखों का पर्दा उठाकर वैराग्य-विभूति प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान की थी; इसी से उनमें सच्ची तन्मयता जागी थी और सच्ची तन्मयता ने ही उनकी वाणी में सरस्वती का बल दिया था।

अनुसंधानकों ने उनके लिखे निम्न ग्रंथों का उल्लेख किया है—घनानंद-कवित्त, आनन्दघन जू के कवित्त, कवित्त-संग्रह, सुजान-विनोद, कृपाकंद-निबंध, सुजानहित, वियोगबेलि, रस-केलिवल्ली, आनंदघन जू की पदावली, इश्कलता, प्रीतिपावस, जमुनाजस और वृंदावनसत। इनमें से कवित्त नाम वाली पहली पुस्तकें एक ही वस्तु है; अंतर नाम-मात्र का ही है। सुजान-विनोद भी इन्हीं की स्फुट रचनाओं का एक संग्रह है; इसे स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मानना चाहिये। शेष कृपाकंद-निबंध, सुजान-हित और बियोगबेलि निःसदेह इनकी अच्छी कृतियां हैं। रस-केलिवल्ली के दर्शन नहीं हुए, केवल नाम ही सुनने में आया है।

आनंदघन जू की पदावली, इश्कलता, प्रीतिपावस और जमुना-जस भी इन्हीं की रचनाएं जान पड़ती हैं। हां वृंदावनसत इनकी कोई रचना नहीं। वास्तव में इसके लेखक हरिदास के शिष्य भगवत मुदित हैं। किसी भूल के कारण यह रचना इनके नाम से प्रसिद्ध हो गई है। इस प्रकार इनके ग्रंथों की नामावली इस रूप में स्वीकार की जा सकती है—घनानंद के कवित्त, कृपाकंद-निबंध, सुजानहित, वियोगबेलि, घनानंद जू की पदावली, इश्क-लता, प्रीतिपावस और जमुनाजस। कृष्ण-भक्ति संबंधी इनका एक बड़ा ग्रंथ छत्रपुर के राजपुस्तकालय से मिला है जिसमें ५४२ पृष्ठ और १८११ विविध छंद तथा अंत में १०४४ पद हैं। इस ग्रंथ में प्रियाप्रसाद, व्रजव्यवहार, वियोगबेलि, कृपाकंद-निबंध, गिरिगाथा, भावनाप्रकाश, गोकुलविनोद, धामचमत्कार,

कृपाकौमुदी नाममाधुरी, वृंदावनमुद्रा, प्रेमपत्रिका, रस-बसंत आदि अनेक कृतियों की सूची दी गई है। वियोगीहरि के ब्रजमाधुरीसार, पं० रामचंद्र शुक्ल के हिंदी साहित्य के इतिहास और डा० हरदेव बाहरी के हिंदी काव्यशैली के विकास में इनके एक और ग्रंथ "कृपाकांड" का भी नामोल्लेख हुआ है, परंतु घनानंद के संबंध में गहरा अनुसंधान करने वाले, हिंदू विश्वविद्यालय के प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कहना है कि यह वस्तुतः 'कृपाकंद' (कृपा-निकंद) ही है। रोमन अक्षरों के द्वारा लिखने से कंद का कांड हो गया है।

इसी प्रकार उपर्युक्त प्रथम तीन लेखकों ने घनानंद को निंबार्क मतानुयायी वैष्णव बताया है, परंतु प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने कृपाकंद-निबंध के रचयिता होने के आधार पर पुष्टिपंथी ठहराया है। प्रस्तुत रचना 'कृष्ण-कृपा' के आधार पर रची गई है। यही कृपा पुष्टिमार्गियों का आधार है। इस दृष्टि से उनका पुष्टिमार्गी होना भी सिद्ध किया जा सकता है, परंतु अपने मत में तो रसिकों का अपना एक पंथ अलग ही होता है। उसमें पुष्टिमार्गियों की प्रेम-याचना-वृत्ति भी आ सकती है और युगल-प्रेमानुभूति भी। यों चाहे उनकी रचना से मतवादी अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें किसी भी ओर खींच लें, परंतु उन्होंने अपनी रचना में किसी सिद्धांतविशेष के लिये कोई खींचातानी प्रस्तुत नहीं की है। सच तो यह है कि वे स्वतंत्र स्वभावावलंबी रसिक भक्त थे। न उन्होंने तत्कालीन साहित्यिक

रूढ़ियों का भार वहन किया है और न मत-मतांतर संबंधी परंपराओं का। वैसे अपना-अपना मत है—प्रत्येक वस्तु में अपना-अपना दृष्टिकोण है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी तो उनके पदों से नाद-व्यंजना की बड़ी अनूठी अनुभूति प्राप्त की है।

कुछ भी सही, घनानंद का स्थान कृष्ण-कवियों में अपने ढंग का निराला है। उनकी प्रयासहीन कविता में उनका कवित्व स्पष्टता से प्रस्फुटित हुआ है। शृंगार-कालीन कृष्ण-भक्त रसिकों में उनका-सा वाक्-पाटव अत्यंत दुर्लभ है। उनके काव्यामृत का रस नीचे के पदों से प्राप्त किया जा सकता है—

"तब तौ तुम दूरहि ते मुसुकाय,
बचाय कैं और की दीठि हँसे।
दरसाय मनोज की मूरति ऐसी,
रचाय कै नैननि में सरसे॥
अब तौ उर माहिं बसाय कैं मारत,
एजू बिसासी, कहां धौ बसे?
कछु नेह-निबाह न जानत हे,
तौ सनेह की धार में काहे धंसे॥"

तथा

"दृग फेरिये ना अनबोलिये सो,
सर से ह्वै लगे कत जीजिए जू,
रसनायक, दायक हौ रस के,
सुखदाई ह्वै दुःख न दीजिए जू॥

घनआनँद प्यारे सुजान ! सुनौ,
बिनती मन मानकै लीजिए जू।
अमिकै इक गांव में एहो दई,
चित्त ऐसौ कठोर न कीजिए जू ॥"

घनानंद के पदों का रसमाधुर्य और पदकोमलत्व निराला ही है; अपने युग के कृष्ण-भक्तों में उनका स्थान बहुत महत्त्व का है। उन्हें अपने समय का 'सूर' कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी।

नागरीदास

(महाराज सावंतसिंह)

यूं तो ब्रज में इस नाम के कई कवि हुए, परंतु सबसे अधिक प्रसिद्धि इन्हीं नागरीदास को प्राप्त हुई जिनका वास्तविक नाम सावंतसिंह था। सावंतसिंह कृष्णगढ़ के राजा थे। संवत १७५६ में इनका जन्म हुआ था। महाराज राजसिंह इनके पिता थे। बचपन से ही इनका शूरवीर होना प्रसिद्ध है। इन्होंने १३ वर्ष की अवस्था में बूंदी के हाड़ा जैतसिंह को मार गिराया था। संवत् १८०४ में ये दिल्ली दर्बार में थे। इस समय के लगभग महाराज राजसिंह का देहांत हो गया। इसी समय बादशाह अहमदशाह ने इन्हें कृष्णगढ़ का उत्तराधिकारी नियत कर दिया। ये सिंहासन संभालने के लिये कृष्णगढ़ पहुंचे, परंतु वहां भाई बहादुरसिंह को पहले से ही सिंहासनारूढ़ पाया। जब इन्हें पता चला कि बहादुरसिंह को जोधपुर की ओर से सहायता

पहुंची है तो इन्होंने भी मरहठों की सहायता से भाई को युद्ध में परास्त करके राज्याधिकार प्राप्त करने का निश्चय किया। इस प्रकार राज्य तो प्राप्त हो गया, परंतु रक्तपात से हृदय में एक खिन्नता-सी उत्पन्न हो गई। इसी विरक्ति के कारण संवत् १८१४ में पुत्र सरदार-सिंह को राज्यभार सौंपकर वृंदावन चले आये और रणछोड़दास जी से दीक्षा लेकर यहीं के हो रहे। कहते हैं उनके वृंदावनवास में उनकी उपपत्नी बनीठनी भी साथ ही रहती थीं। बनीठनी कविता रचने की अच्छी सामर्थ्य रखती थीं। महाराज में भक्ति का बीजा-रोपण और काव्य-रचना का उद्रेक तो संवत् १७८० के लगभग ही हो गया था, परंतु राज्यसिंहासन का परित्याग उन्होंने इसके पर्याप्त समय पीछे किया। वृंदावन की अनुरक्ति का आभास उस समय की रचना में भी मिलता है जिस समय वे सिंहासन पर विराजमान थे। यह उत्कंठा इस पद से स्पष्ट है—

"ब्रज मैं ह्वै कढ़त दिन, किते दिये लै खोय।
अबकै अबकै कहत ही, वह अबकैं कब होय॥"

और वृंदावन पहुंचकर तो वृंदावन का अनुराग इतना बढ़ा कि उसका तनिक-सी देर का वियोग असह्य हो जाने लगा। एक बार ये जमुना के दूसरी ओर चले गये। शाम के समय वृंदावन की ओर लौटे। वहां तट पर कोई नाव ही न मिली, परंतु वृंदावन के प्रेम ने इस बाधा को आड़े न आने दिया। वे जमुना में कूद पड़े और तैरकर अपने स्थान पर पहुंच ही गये।

उनकी रचना से ज्ञात होता है कि वृंदावन में उन्हें सम्मान-

सत्कार भी अच्छा मिला होगा। इस संबंध में उनका यह दोहा प्रसिद्ध है—

"सुनि व्यवहारिक नाम को, ठाढ़े दूरि उदास।
दौरि मिले भरि नैन सुनि, नाम नागरीदास॥"

उनके अपने मुंह से कितना प्रिय लगता है—व्यावहारिक नाम (कृष्णगढ़-नरेश) सुनकर, लोग उदासी से दूर हट गये, परन्तु "नागरी (राधा) दास" नाम सुनकर दौड़-दौड़कर मिले। उसी प्रथम भेंट में उन्हें वृंदावन में कितना प्यार मिला—वहां वालों से, इसका उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है—

"इक मिलत भुजनि भरि दौरि-दौरि,
इक टेर बुलावत औरि-औरि।
कोउ चले जात सहजै सुभाय,
पद गाय उठत भोगहिं सुनाय॥
जे परे धूर मधि मत्तचित्त,
तेउ दौरि मिलत तजि रीति नित्त।
अतिसय विरक्त तिन के सुभाव,
जे गनत न राजा रंक राव॥
ते सिमटि-सिमटि फिर आय आय।
फिर छाड़त पद पढ़वाय गाय॥"

इन्होंने शेष जीवन इसी प्रेम-भूमि में व्यतीत कर दिया। संवत् १८२१ में इनका परलोक-वास हो गया।

सावंतसिंह भक्त नागरीदास नाम से तो प्रसिद्ध थे ही, अपनी रचनाओं में वे नागरी, नागर और नागरिया नाम भी प्रयोग किया करते थे। इनकी उपपत्नी बनीठनी भी रसिक-बिहारी छाप देकर पद-रचना किया करती थीं। यहीं रहते हुए नागरीदास को रसिक-प्रवर घनानंद की मैत्री भी प्राप्त हुई थी।

इनके रचे हुए सब छोटे-मोटे ७२ ग्रंथ मिलते हैं। इन सब ग्रंथों का संग्रह 'नागर-समुच्चय' नाम से हुआ है। इसे वैराग्यसागर, सिंगारसागर और पदसागर नाम के तीन भागों में विभाजित किया गया है। इस समुच्चय में ६१ पद बनीठनी के भी हैं। ७२ ग्रंथों में से कुछ के नाम ये हैं:—

"सिंगारसार, गोपी-प्रेम-प्रकाश, ब्रज-बैकुण्ठ तुला, ब्रज-सार, बिहार-चंद्रिका, भोजनाष्टक, जुगुलरस-माधुरी, गोवन-आगमन, फागविलास, गोपी-बैनबिलास, रासरसलता, कृष्ण-जन्मोत्सव-कवित्त, रास-कवित्त, गोवर्धन-धारन के कवित्त, जुगुल-भक्तिविनोद और गोविंद-परचई।"

नागर-समुच्चय में संगृहीत ७२ ग्रंथों के अतिरिक्त बैन-विलास और गुप्तरस-प्रकाश नाम के दो ग्रंथ और भी सुने जाते हैं।

नागरीदास सख्यभाव के उपासक थे। वे वल्लभ संप्रदाय द्वारा दीक्षित हुए थे, परंतु फिर भी उनकी रचना में उनकी भक्तिभावना का स्वातन्त्र्य झलकता है। उन्होंने किसी सिद्धांत के पचड़े में न पड़कर प्रायः लीला तथा उत्सव संबंधिनी

कविता की रचना की है। फारसी काव्य का प्रभाव ग्रहण करने पर उनके यहां सूफ़ियाना रंग-ढंग भी अच्छा झलक उठा है।

नागरीदास व्रजभाषा के कवि थे, परंतु उनकी रचना से ज्ञात होता है कि उन्हें संस्कृत, फारसी, और डिंगल का भी अच्छा ज्ञान था और गुजराती तथा पंजाबी की भी अच्छी जानकारी प्राप्त थी। उन्होंने अपनी रचना में गेय पदों के अतिरिक्त कवित्त, सवैया, अरिल्ल, रोला और दोहा-चौपाई का भी पर्याप्त प्रयोग किया है।

इस पद में उनका कला-कौशल निहारिये—

"जो मेरे तन होते दोय।
मैं काहू ते कछु नहिं कहतो मो तें कछु कहतो न है कोय ॥
एक जु तन हरि बिमुखनि के संग रहतो देश बिदेस।
बिबिध भांति के जग-दुख-सुख जहं, नहिं भक्ति लवलेस ॥
एक जु तन सतसंग-रंग रंगि, रहतो अति सुख पूरि।
जनम सफल करि लेतो व्रज बसि, जहं व्रज जीवन मूरि ॥
द्वै तन बिनु द्वै काज न ह्वै हैं, आयु सु छिन-छिन छीजै।
"नागरिदास" एक तन तें अब, कहौ कहा कर लीजै ॥"

अलबेली अली

अलबेली जी विष्णु संप्रदाय के महात्मा वंशी अली जी के शिष्य थे। इनका जन्म विक्रम की १८वीं सदी के आदि में हुआ था। किशोरी अली इनके प्रधान शिष्य थे। अलबेली विष्णु

संप्रदाय द्वारा दीक्षित हुए थे और बरसाने में निवास करते थे। इससे अधिक उनका और कुछ भी परिचय ज्ञात नहीं।

भाषा-सुकवि होने के अतिरिक्त ये संस्कृत के भी योग्य पंडित थे। इसका प्रमाण इनके रचे 'श्री स्तोत्र' से मिल जाता है। भाषा में इन्होंने 'समय-प्रबंध-पदावली' नामक ग्रंथ की रचना की। इसमें ३१३ पद अष्टयाम-विषयक हैं। ये पद कवित्व की दृष्टि से बड़े अनूठे बन पड़े हैं। ये संगीत के भी परमाचार्य थे। इसीलिये इनके सभी पद संगीत-संगत और परिमार्जित बन पड़े हैं। 'समय-प्रबंध-पदावली' के आदि में गुरु श्री वंशी अली के संबंध में मंगल संबंधी पदों की रचना भी सफल काव्य का अंग कही जा सकती है। यह उनका एक पद देखिये—

"लीनों वृंदावन बसि लाहो।
सेवा टहल महल की निसिदिन, यह जिय नेम निबाहो॥
अद्भुत प्रेम विहार चारु रस, रसिकनि बिनु किनु चाहो।
अलबेली अलि सफल कियो सब, निज यह रस अवगाहो॥"

बख्शी हंसराज

बख्शी जी का जन्म संवत् १७९९ में पन्ना में हुआ था। ये जाति के श्रीवास्तव कायस्थ थे। पन्ना राज्य में इनके पूर्वजों का अच्छा मान होता आया था और ये स्वयं भी पन्नानरेश श्री अमानसिंह जी के दर्बारियों में से थे। ये सखी संप्रदाय से थे। ब्रज के व्यास गद्दी के विजयसखी नामक महात्मा ने इन्हें दीक्षा

दी थी। उन्होंने दीक्षा देकर सांप्रदायिक नाम प्रेमसखी रखा था। इनकी रचना में मिलने वाला प्रेम-माधुर्य इनका सखीभाव का उपासक होना सिद्ध करता है।

इनके रचे चार ग्रंथ मिलते हैं—१--स्नेहसागर २--विरह-लीला, ३--रामचंद्रिका, ४--बारहमासा। इनमें से पहला ग्रंथ सबसे बड़ा है। यह ग्रंथ ९ तरंगों में समाप्त हुआ है। लाला भगवानदीन द्वारा इस ग्रंथ का संपादन भी हो चुका है। शेष ग्रंथ अभी अप्रकाशित ही हैं। स्नेहसागर में कृष्ण की विविध लीलायें वर्णित हैं। इस ग्रंथ की भाषा अत्यंत भावमय तथा प्रभापूर्ण रही है। भाव-प्राधान्य और स्वाभाविकता उसका अपना गुण है। उसका एक पद नीचे दिया जाता है—

"कोऊ कहूँ आय बन-बीथिन, या लीला लखि जैहै।
काहे कहि कुटिल कठिन कुटिलन सों, सिगरे ब्रज बगरैहै॥
जो तुमरी इनकी ये बातैं, सुनिहै कीरति रानी।
तो कैसे पटिहै पाटे ते, घटिहै कुल को पानी॥"

चाचा हित वृंदावनदास

ये पुष्कर क्षेत्र के गौड़ ब्राह्मण थे। सं० १७६५ में इनका जन्म हुआ। राधावल्लभीय गोस्वामी हितरूप जी इनके गुरु थे तत्कालीन गोसाईं जी के पिता के गुरुभाई होने के कारण गोसाईं जी की देखा-देखी लोग इन्हें चाचा कहकर पुकारने लगे। पहले ये महाराज नागरीदास के भाई बहादुरसिंह जी के आश्रित थे।

जब राजकुल में गृह-कलह आरंभ हुई तो कृष्णगढ़ छोड़कर वृन्दावन चले आये और सदा के लिये वहीं के हो रहे।

सूरदास की भांति इनके संबंध में भी एक लाख पद रचन की बात प्रसिद्ध है, जिनमें से लगभग बीस हजार तो मिल भी चुके हैं। रचना का विषय नख-शिख, अष्टयाम, समय-प्रबंध, छद्म आदि का वर्णन है। छद्म-लीला-वर्णन में चाचा जी हमारे साहित्य के एक महान् कवि हैं। उनके वैराग्य तथा सिद्धांत संबंधी पद भी अनूठे हैं। रागरत्नाकर नाम से इनकी कुछ रचना प्रकाशित भी हो चुकी है।

चाचा जी की रचना सफल काव्य के रूप में प्रस्तुत हुई है। इतनी बड़ी रचना में भी शैथिल्य कहीं नहीं आने पाया है। उनकी रचना में भक्ति की तल्लीनता आदि से अंत तक चली है, यह बात ध्यान रखने की है कि उन्होंने ब्रज-कन्हाई को लेकर काव्यरचना की है न कि यादवपति द्वारकाधीश कृष्ण को।

इनकी रचनाओं से संवत् १८४४ तक इनका जीवित रहना सिद्ध होता है। इसी समय के लगभग इनकी मृत्यु समझनी चाहिये। नीचे इनका एक पद दिया जाता है—

"प्रीतम तुम मो दृगन बसत हो।

कहा भरोसे ह्वै पूछत हौ, कै चतुराई करि जु हँसत हो॥

लीजै परखि स्वरूप आपनो, पुतरिन में तुमहीं तौ लसत हौ।

वृन्दावन हित रूप-रसिक तुम, कुंज लड़ावत हिय हुलसत हौ॥"

भगवतरसिक

इनका जन्म संवत् १७९५ के लगभग माना जाता है। ये टट्टी संप्रदाय के स्वामी ललितमोहनीदास के शिष्य थे। ये बड़े त्यागी महात्मा थे, इसीलिये गद्दी का अधिकार न लेकर निर्लिप्त भक्ति-भावना को ही अपनाया। ये रात-दिन भक्तिभाव में लीन रहते थे। इनकी भक्ति संबंधी रचना में वैराग्य और शृंगार का एक साथ रमने वाला रूप इनकी काव्य-प्रतिभा का द्योतक है। जहां इनके अनन्य प्रेम-रस-पूरित पद, कवित्त, कुंडलियां और छप्पय एक ओर अनन्य प्रेम-भावना की प्रतीति कराते हैं, वहा दूसरी ओर वैराग्य, विरक्ति का भाव भी प्रकटाते हैं। वे परम रसिक थे। इसीलिये तो उन्होंने अपने और अपनी कविता के सबंध में कहा है—

"भगवत रसिक रसिक की बातें, रसिक बिना कोऊ समुझि सकै ना।"

इनकी रची हुई सिद्धांत संबंधी कुंडलियां भी काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से अलौकिक ही रही हैं। इनका रचा हुआ "अनन्य-निश्चयात्मक" नाम का ग्रंथ बताया जाता है, जिसका प्रकाशन लखनऊ-निवासी ला० केदारनाथ वैश्य ने करवाया था।

इनका एक पद नीचे दिया जाता है—

"लखी जिन लाल की मुसक्यान।
तिनहि बिसरी बेद विधि, जप योग संयम ध्यान॥
नेम ब्रत आचार पूजा, पाठ गीता ग्यान।

रसिक भगवत दृग दई असि, ऐंचिकै मुख-म्यान ॥"

श्री हठी

हठी जी का रचनाकाल संवत् १८३७ के लगभग है। ये बड़े साहित्य-मर्म-वेत्ता और हितहरिवंश जी की परंपरा के भक्त-कवि थे। अन्य भक्त-कवियों की अपेक्षा इनकी रचना की यह विशेषता है कि इसमें कला-पक्ष पर विशेष ध्यान दिया गया है। इनका लिखा केवल एक ग्रंथ "राधासुधाशतक" है। यद्यपि यह छोटी-सी रचना है, तथापि अपने ढंग की अच्छी वस्तु है। भारतेंदु जी को यह ग्रंथ बहुत प्रिय था। इनकी कविता में अलंकारों का अच्छा स्थान है। भक्ति में इन्होंने राधा जी को प्राधान्य देकर शेष सभी देवी-देवताओं को नीचा ही दिखाया है। इनके कुछ पदों से ज्ञात होता है कि इन्हें राजसी ठाट-बाट का अच्छा ज्ञान था।

इनके एक पद में रचना-माधुर्य देखिये—

"मोर पखा, गर गुंज की माल
किये नव भेष बड़ी छवि छाई।
पीत पटी दुपटी कटि में,
लपटी लकुटी हठी मो मन भाई॥
छूटी लटैं डुलैं कुंडल कान,
बजै मुरली धुनि मंद सुहाई।
कोटि काम गुलाम भये,

जब काहू है भानु लली बनि आई ॥"

ब्रजवासीदास

ब्रजवासीदास वृन्दावन के रहने वाले तथा वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे। इनके लिखे दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—ब्रजविलास और प्रबोधचंद्रोदय। इनमें प्रथम ग्रंथ प्रबंध-रचना है और दूसरा है इसी नाम के प्रसिद्ध संस्कृत नाटक का विविध छंदों में किया गया अनुवाद। इनकी प्रसिद्धि का श्रेय ब्रजविलास को ही दिया जाता है। इस ग्रंथ की रचना संवत् १८२७ में हुई। इससे अनुमान होता है कि ये १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न हुए होंगे। ब्रजविलास में कथा-क्रम सूर के सूरसागर से और छंदानुकरण तुलसीदास के रामचरितमानस से लिया गया है। इस प्रकार संपूर्ण ग्रंथ दोहे-चौपाइयों में पूर्ण हुआ है। कथा के संबंध में कवि ने स्वयं सूर का आभार स्वीकार किया है—

"या में कछुक बुद्धि नहिं मेरी।
उक्ति-युक्ति सब सूरहि केरी ॥"

ब्रजविलास में कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का जन्म से लेकर मथुरा-प्रयाण-पर्यंत वर्णन किया है। इस ग्रंथ की भाषा में व्यावहारिकता, सुव्यवस्थितता और सरलता रही है। रामायण के ढंग पर रचना होने पर भी उसमें रामचरितमानस के जैसी प्रभाव-प्रवणता नहीं आने पाई है। वस्तुतः कृष्ण के चरित्र में

कृष्ण-भक्त कवि राम-जीवन की-सी व्यापकता ला भी कहां से पाते। कृष्ण-साहित्य के कृष्ण आदि से अंत तक क्रीड़ामय ही तो बने रहे। इसीलिये राम की-सी पुरुषोत्तम-सुलभ महत्ता कृष्ण के चरित्र में आ ही न सकी। फिर भी, कृष्ण-भक्तों में ब्रजविलास का अच्छा आदर है।

इनकी रचना की कुछ पंक्तियां देखिये—

"कहत यशोदा कौन विधि। समभाऊं अब कान्ह॥
भूलि दिखायो चंद मैं। ताहि कहत हरिखान॥
यहै देत नित माखन मोकों। छिन छिन देति तात सो तोको॥
जो तुम स्याम चंद को खैहो। बहुरो फिर माखन कहं पैहो?
देखत रहौ खिलौना चंदा। हठ नहिं कीजै बाल गोविंदा॥
पा लागौं हट अधिक न कीजै। मैं बलि. रिसहिं रिसहिं तन छीजै॥"

कृष्णदास

इनका रचनाकाल संवत् १८५३ के आस-पास है। ये मिर्जापुर के रहने वाले, जाति के ब्राह्मण थे। इनका अधिक परिचय कुछ भी ज्ञात नहीं। इनका रचा माधुर्य-लहरी ४२० पृष्ठों का कृष्ण-चरित्र संबंधी अच्छा ग्रंथ है। साधारणतया रचना में सौंदर्य-गौरव प्राप्त है। अपनी कविता से अच्छे भक्त जान पड़ते हैं।

यह इनका एक पद है—

"कौन काज लाज ऐसी करै जो अकाज अहो,
बार-बार कहाँ नरदेह कहाँ पाइए।
दुर्लभ समाज मिल्यो सकल सिद्धान्त जानि,
लीला गुन नाम धाम रूप सेवा गाइए॥
बानी की सयानी सब पानी में बहाय दीजै,
जानी सो न रीति जासों दंपति रिझाइए।
जैसी जैसी गही जिन लही तैसी नैननहू,
धन्य धन्य राधाकृष्ण नित्य ही मनाइए॥"

रसिकगोविंद

रसिकगोविंद का रचनाकाल संवत् १८५० से १८९० तक माना जाता है। ये निंबार्क संप्रदाय के अनुयायी थे। इनके गुरु का नाम सर्वेश्वरशरण, पिता का नाम शालिग्राम और माता का नाम गुमाना था। रसिक जी वृंदावन में रहते थे, परन्तु वैसे ये जयपुर के निवासी थे और जाति से नटाणी थे।

इनके रचे ९ ग्रंथों का पता चलता है। उनके नाम ये हैं:—१--अष्टदेश-भाषा, २--समय-प्रबंध, ३--युगल-रस-माधुरी, ४--रामायण-सूचनिका, ५--रसिक-गोविंदानंद-घन, ६--लछिमन-चंद्रिका, ७--पिंगल, ८--कलियुग-रासो, ९--रसिक-गोविंद। इनमें से प्रथम तीन ग्रंथ कृष्ण-साहित्य से संबंध रखते हैं। प्रथम ग्रंथ में ब्रज, खड़ी बोली, पंजाबी, पूरबी आदि आठ बोलियों में राधा-कृष्ण की शृंगार-लीला वर्णित है। दूसरे ग्रंथ में ८५ पद्यों

में राधा-कृष्ण की ऋतुचर्या वर्णित है। तीसरी रचना युगल-रस-माधुरी रोला छंद में है। इसमें राधा-कृष्ण-विहार और वृंदावन संबंधी वर्णन अत्यंत सरस और भावमय रहा है। इसमें कवि-कौशल और हृदय-विदग्धता का अच्छा परिचय मिलता है। इसी ग्रंथ से इनकी रचना का एक पद नीचे दिया जाता है—

"मुकलित पल्लव फूल सुगंध परागहि झारत।
जुग मुख निरखि विपिन जनु राई लोन उतारत॥
फूल फलन के भार डार झुकि यों छवि छाजै।
मनु पसारि दइ भुजा देत फल पथिकन काजै॥
मधु मकरंद पराग-लुब्ध अलि मुदित मत्त मन।
बिरद पढ़त ऋतुराज नृपति के मनु बंदीजन॥"

बाबा दीनदयाल गिरि

बाबा गिरि का जन्म काशी के गायघाट मुहल्ले में संवत् १८५६ में हुआ था। जब ५-६ वर्ष के ही थे तभी माता-पिता का देहांत हो गया। महंत कुशागिरि ने इनके पालन का भार अपने ऊपर लिया। ये उन्हीं के पास रहते रहे और उन्हीं की शिष्यता ग्रहण कर ली। महंत कुशागिरि पंचक्रोशी के मार्ग में पड़ने वाले देहली-विनायक नामक स्थान के अधिकारी थे। वैसे काशी में इनके और भी कई मठ थे। महंत जी रहते प्रायः गायघाट मुहल्ले वाले मठ में ही थे। चेला बन जाने के अनंतर दीनदयाल गिरि जी प्रायः उसी मठ में रहते थे। जब महंत जी का

देहांत हो गया तो उनकी बहुत-सी जायदाद नीलाम हो गई और दीनदयाल जी देहली-विनायक के निकट मौठली गांव वाले मठ में आकर रहने लगे। इन्होंने महंत जी के सत्संग से हिंदी-संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। भारतेंदु जी के पिता बा० गोपालचंद्र जी से इनका बड़ा स्नेह था।

इनके रचे चार ग्रंथ हैं:—

१—विश्वनाथ नवरत्न, २—दृष्टांत-तरंगिणी, ३—अनुराग बाग, ४—वैराग्य-दिनेश, ५—अन्योक्ति कल्पद्रुम।

दीनदयाल बड़े भावुक कवि थे। भाषा पर इनका बड़ा अच्छा अधिकार था। इनकी भाषा प्रौढ़, परिपक्व, सुव्यवस्थित और बड़ी सुलझी हुई है। हां, जहां काव्य का कलापक्ष प्रबल हो गया है वहां उसमें गम्भीरता, जटिलता परंतु अलंकारिता भी आ गई है। भावपक्ष में जाकर केवल तथ्य-कथन के लिये भाषा का स्वच्छ और साधारण स्वरूप ही व्यवहृत हुआ है।

यत्र-तत्र भाषा में पूरबीपन और रचना में व्याकरणदोष भी आ गया है। उनके संस्कृत संबंधी ज्ञान का प्रभाव उनकी रचना पर स्पष्ट रहा है। इनकी ख्याति का प्रधान श्रेय अन्योक्ति कल्पद्रुम को ही दिया जा सकता है। यह ग्रंथ हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। इस ग्रंथ की-सी अन्योक्तियां हमारे साहित्य में अन्यत्र कहीं भी दुर्लभ हैं। अनुराग-बाग की रचना कृष्ण की विविध लीलाओं के वर्णन में हुई है। इस रचना के कवित्त

और मालिनी छंद अलौकिक माधुर्य से परिपूर्ण रहे हैं।

इनका रचनाकाल संवत् १८७६ से १९१२ तक माना जाता है और परलोक-प्रयाण संवत् १९१५ में। ये इनके दो पद हैं—

"चरन-कमल राजैं, मंजु मंजीर बाजैं।
गमन लखि लजावैं, हंसऊ नाहिं पावैं॥
सुखद कदम-छाहीं, क्रीड़ते कुंज माहीं।
लखि लखि हरि सोभा, चित्त काको न लोभा॥"

तथा

"चल चकई तेहि सर विषै जहं नहिं रैन-बिछोह।
रहत एक रस दिवस ही, सुहृद हंस-संदोह॥
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाको।
भोगत सुख-अंबोह, मोह-दुख होय न ताको॥
बरनै दीनदयाल भाग बिन जाय न सकई।
पिय-मिलाप नित रहै, ताहि सर चल तू चकई॥"

सहचरिशरण

सहचरिशरण जी का जन्म १९वीं शताब्दी के अंत के लगभग मानना चाहिये। इनका असली नाम सखीशरण था। ये टट्टी संप्रदाय में दीक्षित हुए थे और महंत राधिकादास के उत्तराधिकारी थे। परिचय के संबंध में इससे अधिक कुछ ज्ञात

नहीं। वैसे रचना से पंजाबी जान पड़ते हैं।

इनके दो ग्रंथ मिलते हैं—१—ललितप्रकाश, २—सरस-मंजावली। पहले ग्रंथ में टट्टी संप्रदाय के सिद्धांतों का निरूपण तथा स्वामी हरिदास जी का जीवन-चरित्र आदि विषय वर्णित हैं। इस ग्रंथ में विविध छंदों का सुंदर प्रयोग हुआ है। सरस-मंजावली में १०४ मंज छंद संगृहीत हैं। यत्र-तत्र अरिल्ल भी प्रयोग किया गया है। ये १४० पद कृष्ण-साहित्य में अपना मोल रखते हैं। भक्त-कवि वियोगीहरि का इन पदों के संबंध में कथन है—

"मंजावलि रचि सरस रहसि पद्धति विस्तारी।
भई न है नहिं ह्वै है रचना अस रसवारी॥"

इन दोनों ग्रंथों के अतिरिक्त इनके कुछ फुटकर पद भी मिलते हैं।

इनकी रचना में व्रजभाषा, खड़ी बोली, पंजाबी और फारसी का मधुर मिश्रण हुआ है। इनके छंदों में प्रभाव और मादकता है। काव्य-चमत्कार और भक्ति का माधुर्य इनके यहां कूट-कूटकर भरा है। निम्न पद से इनके भक्तिमय सरस-हृदय का आनंद लीजिये—

"मीठा मंजु पिलाया प्याला ऐसा मुरशिद मेरा।
रसिकराज दा मैं गुलाम जिमि कामी का मन चेरा॥
आशिकानदा रंग संग उर व्रज वृंदावन मेरा।
सहचरिसरन, मोहनी मोहन दिया हिया विच डेरा॥"

नारायण स्वामी

इनका जन्म संवत् १८८४ के लगभग रावलपिंडी जिले में हुआ। ये जाति के सारस्वत ब्राह्मण थे। संवत् १९१६ में ये वृंदावन पहुंचे और लाला बाबू के मंदिर में नौकरी कर ली। दिन में नौकरी करते और रात में सत्संग तथा रास में लगे रहते। विवाहित तो थे, परंतु उस समय बाल-बच्चों को पास नहीं रखते थे। आगे चलकर भक्तिभावना से अभिभूत होकर सन्यास ले लिया। ये स्वभाव से बड़े सरस, सरल और सौम्य थे। जीवनचर्या बड़ी पवित्र और शुभ्र थी। धन-मान और भोग-विलास के जीवन से सदैव बचते ही रहते थे। अपने महत्वपूर्ण चरित्र से इन्होंने जीवन में अच्छा मान पाया।

कहते हैं कि ये कृष्ण-क्रीड़ा-स्थलों की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के विचार से वृंदावन की भूमि पर शौच भी नहीं जाते थे। वर्षा में मतरौड़ की ओर और जाड़े-गर्मियों के दिनों में जमुना पार जाते थे। कृष्ण-प्रेमानुभूति में उनका हृदय बिखर जाता था और फूट-फूटकर रोने लगते थे।

स्वामी जी पंजाबी थे; फिर भी ब्रजभाषा से उनका निकट का संबंध हो गया था। पहले इन्होंने भगवत-भजन संबंधी कुछ गजल छपवाये थे। पीछे चलकर ब्रज-विहार नाम से उनके पदों का संग्रह हुआ। उन्हीं में से, एक पद नीचे दिया जाता है—

"सखि ये दृगवा रूपलुभाने।
मचल रहे सखि-मुख निरखनि कों, आ विधि बाल अयाने॥
लोक लाज कुल-धर्म खिलौना, दिये तऊ नहिं माने।
नारायन सोऊ हनि फोरे, ऐसे निडर सयाने॥"

☆

द्वितीय अध्याय

श्रृंगार-प्रभाव-प्रधान कृष्ण-काव्यकार

श्रृंगार-प्रभाव लेकर चलने वाले कृष्ण-काव्यकारों ने रीति-विवेचन को प्रमुख विषय बनाया और राधा-कृष्ण के अलौकिक रूप को रीति-उद्दीपनार्थ प्रयोग किया। रीति-विषयक ग्रंथों में भी काव्य संबंधी विवेचन, जो कि उनका प्रमुख अंग था, गौण रह गया और नायिकाभेद, अष्टयाम, ऋतुवर्णन तथा बारहमासे तक ही रीति-विवेचन की परिमिति रह गई— नखसिखों की भरमार रहने लगी। इस काल की रसिकता यहां तक बढ़ी कि रस-राजत्व का मुकुट उसी के सिर पर रख दिया गया। फिर भी, इस श्रृंगार के आलंबन के लिये प्रायः राधा-कृष्ण को ही लिया गया। आगे हम इसी पथ के कवियों का परिचय प्रस्तुत करेंगे।

कालिदास त्रिवेदी

त्रिवेदी जी का संवत् १७४५ में वर्तमान रहना सिद्ध है। कहा जाता है कि उसी वर्ष गोलकुंडे की चढ़ाई पर औरंगजेब

की सेना में किसी हिंदू राजे की सेना के साथ गये थे। इस युद्ध का वर्णन करते हुए इन्होंने औरंगजेब की प्रशंसा भी की है। इनके संबंध में अधिक तो कुछ ज्ञात नहीं। हां, इतना पता चलता है कि ये जाति के ब्राह्मण और अंतर्वेद के निवासी थे। रसचंद्रोदय के लेखक उदयनाथ कवींद्र इन्हीं के पुत्र थे और कविकुल-कंठाभरण के प्रसिद्ध रचयिता कवि दूलह (जिनके संबंध में प्रसिद्ध है—"और बराती सकल कवि, दूलह दूलहराय") इनके पौत्र थे। कालिदास का जंबूनरेश जोगजीतसिंह के यहां रहना भी प्रसिद्ध है। उनके लिये इन्होंने संवत् १७४९ में बारवधू-विनोद की रचना की। यह रचना नायिकाभेद और नखशिख संबंधी है। इसके अतिरिक्त ३२ पद्यों की जंजीराबंद नामक छोटी-सी पुस्तक और भी है। कृष्ण-संबंधी इनका एक और ग्रंथ भी उपलब्ध है जिसका नाम "राधा-माधव-बुधमिलन-विनोद" है।

शिवसिंहसरोज में इनके लिये कालिदासहजारा का भी उल्लेख है जिसमें १००० पद्यों में २१२ कवियों का वर्णित वृत्त बताया जाता है। परंतु ग्रंथ अप्राप्य ही है।

इनकी रचना में इनका कौशल और माधुर्य अच्छा प्रस्फुटित हुआ है, परंतु भक्ति के स्थान पर रचना-चातुर्य की ओर ही अधिक ध्यान रहा जान पड़ता है। यह इनकी ही बात नहीं, आगे के इस अध्याय के प्रायः सभी कवियों

में भक्ति की तन्मयता का अभाव रहा है। वास्तव में ये भक्त नहीं, अपितु रीति-परंपरा के कृष्ण-प्रेम-माधुरी के सरस गायक थे। रीति-पथ पर चलते, तत्कालीन जनसाधारण में रमी कृष्णमाधुरी ने मोह-मुग्ध करके इस ओर खींच लिया था—

"चूमौं करकंज मंजु अमल अनूप तेरो,
रूप के निधान, कान्ह! मो तन निहारि दै।
'कालिदास' कहै मेरे पास हरैं हेरि हेरि,
माथे धरि मुकुट, लकुट कर डारि दै॥
कुँवर कन्हैया मुखचंद की जुन्हैया, चारु
लोचन-चकोरन की प्यासन निवारि दै।
मेरे कर मेहँदी लगी है, नंदलाल प्यारे!
लट उरझी है नकबेसर सँभारि दै॥"

रघुनाथ

इनका रचनाकाल संवत् १७९० से १८१० तक समझना चाहिये। ये बंदीजन थे और काशीनरेश बीरबंडसिंह की सभा में रहते थे। उसी आश्रय से इन्हें वृत्त्यर्थ एक ग्राम भी मिला था। प्रसिद्ध कवि गोकुलनाथ (महाभारत के पद्यानुवाद-कर्ता) इन्हीं के पुत्र थे। शिवसिंह सेंगर ने इनके लिखे ग्रंथों का उल्लेख किया है—

१—जगतमोहन, २—रसिकमोहन, ३—काव्यकलाधर,

४—इश्कमहोत्सव, ५—बिहारीसतसई की टीका।

इनमें से प्रथम ग्रंथ अष्टयाम शैली पर रचा गया है। इसमें भगवान् कृष्ण की १२ घंटे की दिनचर्या वर्णित है। इसमें राजनीति, नगरगढ़-रक्षा, मृगया, सेना, शतरंज, ज्योतिष, वैद्यक, पशु-पक्षी-विज्ञान आदि अनेक जानने योग्य विषयों की विशेष-विशेष बातों का उल्लेख हुआ है। काव्यदृष्टि से, विस्तार के कारण, यह ग्रंथ अरोचक भले ही ठहरे, परंतु उपादेयता की दृष्टि से इसका अच्छा स्थान है।

शेष ग्रंथों में से रसिकमोहन अलंकार ग्रंथ है। काव्यकलाधर में रस, भाव और नायिकभेद वर्णित हैं। इश्क-महोत्सव में खड़ी बोली की रचनाएं हैं।

रघुनाथ विस्तृत ज्ञानसंपन्न कवि थे। इनकी रचना में इनकी प्रतिभा और प्रौढ़ता का अच्छा दर्शन मिलता है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली, दोनों में ही उन्होंने लिखा, परंतु खड़ी बोली में उस समय में सफलता प्राप्त करना असंभव-सा ही था। हां, ब्रजभाषा की रचना अच्छी सरस और मंजी हुई रही है।

सोमनाथ

सोमनाथ, कविता में अपना नाम ससिनाथ रखते थे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ रसपीयूषनिधि संवत् १७९४ में रचा गया। ये माथुर ब्राह्मण थे और भरतपुरनरेश बदनसिंह

के छोटे पुत्र के आश्रय में रहते थे। 'रस-पीयूष-निधि' रीति-संबंध में व्याख्या करने वाला अमूल्य ग्रंथ है जो कि भिखारीदास के काव्यनिर्णय से भी बड़ा रहा है। रसपीयूष के अतिरिक्त इनके तीन ग्रंथ और हैं—१—सुजानविलास (सिंहासन-बत्तीसी का अनुवाद), २—माधव-विनोद-नाटक और ३—'कृष्ण-लीलावती-पचाध्यायी''। इनमें से अंतिम रचना ही कृष्ण-काव्य संबंधी कही जा सकती है।

रीतिरचना में ये अन्योक्ति-कल्पना के कौशल में अति प्रसिद्ध रहे हैं। इनका व्यंग भी हमारे साहित्य की गौरव निधि है।

ग्वाल

ग्वाल का कविताकाल संवत् १८७९ से १९१९ तक रहा है। ये मथुरा के रहने वाले थे। सेवाराम बंदीजन इनके पिता थे। कहते हैं कि देशाटन करके इन्होंने पंजाबी, गुजराती, अवधी, राजस्थानी आदि १९ भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया था। रीतिरचना के अतिरिक्त इन्होंने कृष्ण-भक्ति संबंधी रचना भी की है। इनके रचे ग्रथ ये हैं:—

१—रसिकानंद, २—रसरंग ३—दूषणदर्पण, ४—कृष्ण जु को नखसिख, ५—हम्मीरहठ, ६—गोपीपचीसी, ७—यमुनालहरी और ८—भक्तभावना। कवि-हृदय-विनोद नाम का, एक फुटकर पदों का, संग्रह भी इनका है। इनके

अतिरिक्त इनकी दो रचनाएं और भी बताई जाती हैं—राधा-माधव-मिलन और राधा-अष्टक।

इनमें से पहले चार ग्रंथ रीति संबंधी है। चौथे मे उनके भक्त-हृदय का आभास भी मिलता है। गोपी-पच्चीसी तो है ही कृष्ण-काव्य संबंधी वस्तु। शेष दो अप्राप्य रचनाए भी भक्ति संबंधिनी ही हैं। यमुनालहरी उनका सर्वप्रथम ग्रंथ है। पद्माकर की गंगालहरी से ही उसको प्रेरणा मिली होगी। परंतु प्रथम रचना होने के कारण काव्यकला की दृष्टि से इसे सफल रचना नहीं कहा जा सकता। भक्तभावना की रचना १९१९ में हुई और यही उनकी अंतिम रचना है।

इनकी रचना प्रवाह और प्रभाव से परिपूर्ण होते हुए भी अर्थसौष्ठव का अभाव रखती है। यत्र-तत्र भरती के शब्दों के आ जाने से लद्धड़पन-सा आ गया है। प्रवृत्ति मे परिमार्जन का अभाव और बेढंगे से अरबी, फारसी के शब्दों का सम्मिलन रसप्रवाह में बाधक हो गया है, परंतु जनता के निकट की भाषा होने के कारण आज भी उनके बहुतेरे पद लोगों के मुंह से सुने जाते हैं। उनके निम्न पद में भी उनकी भक्ति का फक्कड़पन स्पष्ट रूप में देख सकते हैं—

"दिया है खुदा ने खूब खुशी करो ग्वाल कवि,
खाव पियो देव लेव यहीं रह जाना है

राजा राय उमराव केते बादसाह भए,
कहा ते कहा को गए लग्यो न ठिकाना है ॥
ऐसी जिंदगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे,
देस देस घूमि घूमि मन बहलाना है।
आए परवाना पर चलै ना बहाना यहाँ,
नेकी कर जाना फेर आना है ना जाना है ॥"

किसी गोपी का कृष्ण के लिये उपालंभ भी देखिये --
"त्यों कवि ग्वाल विरंचि विचार कै, जोरी मिलाय दई अति खासी।
जैसोई नंद के पालकु कान्हमु, तैसिये कूबरि कंस की दासी ॥"

गोकुलनाथ

गोकुलनाथ कविवर रघुनाथ बंदीजन के पुत्र थे। इन्होंने अपने पुत्र गोपीनाथ तथा कवि मणिदेव के साथ मिलकर काशीनरेश महाराजा उदितनारायणसिंह की आज्ञा से महाभारत तथा हरिवंश पुराण का कविता में अनुवाद किया है। यह अनुवाद लगभग २००० पृष्ठों का है। इसे हिंदी का सबसे बड़ा ग्रंथ मानना चाहिये। इसकी रचना संवत् १८३० से आरंभ होकर संवत् १८८४ तक लगभग ५४ वर्षों में संपन्न हुई। काशीनरेश ने इसकी रचना के लिये लाखों रुपये व्यय किये।

इसके अतिरिक्त गोकुलनाथ के निम्नलिखित ग्रंथ और भी हैं:—

१—गोविंद-सुखद-विहार, २—राधा-कृष्ण-विलास, ३—राधानखशिख, ४—नामरत्नमाला, ५—अमरकोषभाषा, ६—कविमुखमंडन, ७—चेतचंद्रिका और ८—सीतारामगुणार्णव।

गोकुलनाथ जी की रचना प्रबंध तथा रीति से संबंधित है। राधा-कृष्ण के संबंध में जो विहार और नखशिख हैं वे भी प्राय: रीति की पीठभूमि कहे जा सकते हैं। और राधा-कृष्ण-विलास में तो स्पष्टतया है ही रसवर्णना।

गोकुलनाथ अपने साथी अनुवादकों में सर्वश्रेष्ठ रहे हैं। उनकी अन्य रचना भी उनकी काव्यमर्मज्ञता और कवित्व कला का अच्छा परिचय देती है। गंभीरता और व्यवस्थितता उनकी भाषा के गुण हैं। भाषा को बाहरी उपकरणों के भार से लादने का व्यर्थ प्रयत्न उनके यहां नहीं हुआ है। छंदों में कवित्त, सवैया के अतिरिक्त दोहा, चौपाई और रूपमाला का भी अच्छा प्रयोग किया है।

मंचित कवि

ये संवत् १८३६ में वर्तमान थे। बुंदेलखंड में मऊ स्थान इनकी निवास-भूमि था। इनकी रचना स्वांत:सुखाय-सी रही है, जिसमें रचनासौंदर्य की अपेक्षा तल्लीनता की झलक अधिक है।

इनके रचे दो ग्रंथ हैं और दोनों ही कृष्णकाव्य से संबंध रखते हैं। नाम ये हैं:—१—सुरभीदानलीला, २—

कृष्णायन। सुरभीदानलीला में सुरभीदान-लीला, बाल-लीला, यमलार्जुन-लीला आदि का वर्णन है; साथ ही कृष्ण का नख-सिख भी वर्णित है। इसकी रचना दूसरे ग्रंथ की अपेक्षा अधिक सरस रही है। कृष्णायन की रचना तुलसी के मानस के ढंग पर दोहा-चौपाइयों में हुई है। इन दोनों ग्रंथों की रचना में ब्रजभाषा का व्यवहार हुआ है। भाषाजटिलता के साथ-साथ सानुप्रासिकता का मोह शृंगार-युग की अलंकार-प्रियता की प्रवृत्ति का सूचक जान पड़ता है; इसीलिये भक्ति की अपील ढीली पड़ती स्पष्ट होती है। उनके कृष्णायन से कुछ चौपाइयां दी जाती हैं—

"अचरज अमित भयो लखि सरिता।
दुतिय न उपमा कहि सम-चरिता॥
कृष्णादेव कहं प्रिय जमुना सी।
जिमि गोकुल गोलोक-प्रकासी॥
अति बिस्तार पार पय पावन।
उभय करार घाट मन भावन॥
बनचर बनज बिपुल बहु पच्छी।
अलि-अवली-धुनि सुनि अति अच्छी॥"

गोपालचंद्र

गोपालचंद्र जी का जन्म संवत् १८९० में और परलोक-वास १९१७ में हुआ। ये हिंदी-गद्य के प्रवर्तक, प्रसिद्ध कवि भारतेंदु जी के पिता थे। गोपालचंद्र जी कविता में अपना नाम

गिरिधरदास, गिरिधर या गिरिधारन रखते थे। इनके पिता का नाम हर्षचंद्र था। ये ईस्ट इण्डिया कंपनी-शासनकाल के प्रसिद्ध सेठ अमीचंद की वंश-परंपरा में से थे जिन्होंने क्लाइव के साथ मैत्री गांठकर बंगाले की नव्वाबी से लाखों रुपया ऐंठा था। अमीचंद के पश्चात् उनके वंशज काशी आ बसे थे। काशी का यह घराना संपन्नता में काशीनरेश की होड़ करता था। इस संपन्नता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि बाबू गोपालचंद्र के "सरस्वती-भवन" नामक पुस्तकालय का मोल एक लाख रुपया तक उठ रहा था।

गोपालचंद्र हिंदी-संस्कृत के योग्य ज्ञाता थे। उनमें ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा भी थी। तभी तो केवल २७ वर्ष की आयु में उन्होंने पूरे चालीस ग्रंथों का प्रणयन कर डाला था, जिनमें से स्वावलोकित निम्न १८ ग्रंथों का ब्यौरा बा० ब्रजरत्नदास (भारतेंदु बाबू के दौहित्र) ने इस प्रकार दिया है:—

१—भारतीभूषण, २—रसरत्नाकर, ३—भाषाव्याकरण, ४—ग्रीष्मवर्णन, ५—मत्स्यकथामृत, ६—वाराहकथामृत, ७—नृसिंहकथामृत, ८—वामनकथामृत, ९—परशुराम-कथामृत, १०—रामकथामृत, ११—एकादशीमहात्म्य, १२—जरासंधवध महाकाव्य, १३—बुद्धकथामृत, १४—कल्कि-कथामृत, १५—नहुष नाटक, १६—बलरामकथामृत, १७—गर्गसंहिता (कृष्णचरित का दोहे-चौपाइयों में बड़ा ग्रंथ), १८—कृष्ण चरित्र (४७०१ पदों में)।

इनमें से अंतिम दोनों ग्रंथ कृष्ण-साहित्य के अनमोल रत्न हैं। इनके अतिरिक्त बाबू राधाकृष्णदास (भारतेंदु बाबू के फुफेरे भाई) ने भारतेंदु का आधार लेकर बाबू गोपालचंद्र के २१ ग्रंथ और गिनाए हैं, परंतु अभी सभी अलभ्य हैं। इनमें से गोपालस्तोत्र, श्रीराधास्तोत्र और कालियकाष्टक का नाम भी है, जो कि नाम से तो कृष्ण-साहित्य की ही संपत्ति जान पड़ते हैं।

बाबू जी की प्रायः सारी रचना रीति तथा भक्ति के संबंध मे है। भक्ति संबंधिनी रचनाओं के अतिरिक्त शेष ग्रंथों की रचना लद्धड़ भाषा में हुई है। यत्र-तत्र भाषा बड़ी दुरूह-सी हो गई है। प्रायः शब्द तथा अर्थचमत्कार की ओर इनका अधिक रुझान रहा है। इसी से रस-विधान फीका पड़ जाता है। इसकी अपेक्षा भक्ति संबंधिनी रचना में काव्य की गति कहीं अधिक रसमय और प्रवाह-शील रही है। भक्ति-रचना में प्रसाद और माधुर्य का अच्छा दर्शन मिलेगा। कुछ भी सही, इतनी विस्तृत रचना उनकी प्रतिभा की द्योतक अवश्य कही जायेगी। इतनी थोड़ी आयु में—केवल २७ वर्षों के जीवन में—इतना लिखना भी तो कम महत्व की बात नहीं। इतने साहित्य का प्रणयन उनकी योग्यता, प्रतिभा, पटुता और उत्साह का ही प्रतिफल समझना चाहिये।

☆

परिशिष्ट

शृंगारिकों का फुटकर कृष्ण-काव्य

शृंगार-कालीन कृष्ण-काव्यकारों में रीति-प्रभाव कुछ अनिवार्य रूप से लक्षित रहा है। इनमें भाषा-चमत्कार के लिये विशेष प्रयत्न रहा। शृंगारिकता की पुट इनकी रचना में अपना स्थान रखती ही रही। सांप्रदायिकता के रक्षण में चलने वाले भक्तकवियों तक से इस शृंगार का परिहार न हो सका। हां, इतना अवश्य माना जा सकता है कि भक्ति की शृंगारिकता उस वृत्त में कम हो गई, जहां पहुंचकर वह अश्लीलता में परिणत हो जाती है। कृष्ण-भक्ति में माधुर्यभावों की उपासना ही तो आकर्षण का एक-मात्र आधार थी। उससे मुक्त होकर तो उसमें अन्य कोई भी वस्तु ऐसी थी कहां जिसे ज्ञानमार्गियों की अपेक्षा अधिक आकर्षक समझा जा सकता। राम-भक्तों की आदर्श-प्रियता का दृढ़ गढ़ भी इतना प्रबल था कि उसे अन्य किसी उपाय से भेदकर उसके स्थान पर कृष्ण-भक्ति की गद्दी स्थापित ही नहीं की जा सकती थी। बस, तभी तो कृष्ण की मधुर-मूर्ति

की कल्पना हुई थी और वह भी "उनकी रस-प्रतिमा राधा" के साथ। भक्तों की मनोवृत्तियों को ठेस पहुँचाने का हमारा तात्पर्य नहीं, परंतु इतना फिर भी कहना ही पड़ता है कि इस सौंदर्य-भावोपासना में न कृष्ण का मान सुरक्षित रहा न राधा का गौरव। वे विष्णु और लक्ष्मी के प्रतीक, भक्तों की इस कल्पना की सूझ-बूझ पर कितने रीझे होंगे, इसका अनुभव तो भक्त-हृदयों में ही हो सका होगा। भक्ति की तन्मयता में इस रसमूर्ति ने जले जी को शांति अवश्य ही होगी, परंतु जनसाधारण में इस रूपकल्पना ने जनता में उस साहसिकता का प्रादुर्भाव भी अवश्य उत्पन्न किया जिसमें न नर की आचरण-भूमि सुरक्षित रही और न नारी की।

मुगल-कालीन संस्कृति से हमारे साहित्य ने भारी प्रभाव ग्रहण किया। शाही दर्बार की विलासिता ने लोगों की तबीयतों में रंगीनियां दीं—यह तो स्पष्ट ही है, परंतु साथ ही यह भी समझ में आने वाली बात है कि अकबर की उदार नीति ने हिंदू-मुस्लिम भेद-भूमि को पाटकर अंतर की गुंजाइश कम ही कर दी थी, जिसके फलस्वरूप जनता की हार्दिक उमता में ढीला-पन आ गया था—वह उमता जिसने वीरगाथाकार दिये और शक्ति की निष्फलता अनुभव हो जाने पर जनता के निराशावाद में भक्ति का उद्रेक किया। अकबर ने अपने मंत्री-मंडल में हिंदुओं को बराबर का अधिकार देकर—उन्हें दर्बारी नवरत्नों में सम्मिलित करके उनके हृदयों में विश्वास-भावना

उत्पन्न की थी। वहां बहुत सीमा तक सुप्रबंध द्वारा जनता को सुख-सुविधा पहुंचाने का भी प्रयत्न किया था। इस नीति का अनुसरण अकबर के अनंतर उसके प्रायः सभी उत्तराधिकारियों ने किया। कहने का तात्पर्य यह है कि आज वह स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी कि जिसमें न पहले जैसी वीरगाथाओं के प्रणयन की गुंजाइश रह जाती थी और न भक्त की उस उमता की, जिसमें करुणाभरे शब्दों में भक्त अपने संकट में भगवान् का आह्वान कर रहा था। जनता के सुख के दिन थे। अकबर ने हिंदू जनता के दग्ध हृदय पर शांति का प्रलेप दिया; जनता ने विश्वास कर लिया। हां, हिंदू और मुसलमान आज के शासक की दोनों प्रिय आंखें थीं। जहांगीर में राजपूती रक्त का कुछ अंश था; फिर उसका त्याग भी तो अप्रतिम था। जनता ने निर्भयता की सांस ली। शाहजहां ने अपनी कला-प्रियता से हिंदू और मुसलमान का भेद ही नहीं रहने दिया। कलाकार की अपनी अलग ही एक जाति होती है। कला को विलास की वस्तु बनाने का उपक्रम बहुत पुराने जमाने से चली आई एक प्रथा है। इस कलायुग ने भी विलासिता को अतिक्रमण के लिये विवश किया। इन्हीं अंतरवस्थाओं ने हमारी साहित्यिक परंपरा को रीतिकार दिये। इसी प्रभाव ने हमारे भक्त-कवियों के तल्लीनता-परिपूर्ण स्वर में ढीलापन पैदा किया; तभी तो उपास्य देव की प्रतिमा के साथ भी शृंगारिक छेड़ आरंभ हुई। वहां पर रसिकता लाने

के लिये ही राधा और राधा का शृंगारचित्र उपस्थित हुआ और यदि उसमें भी आत्मतृप्ति न हो सकी तो फिर गोपियों के साथ ही रंगरलियां आरंभ हुईं। शृंगार-कालिक इस शृंगारिकता ने कृष्ण-भक्ति को अपने प्रभाव में जी भरकर रंगा। सांप्रदायिकता के प्रभाव में रहने वाले यदि कुछ बचे रह भी गये हों तो रीति-प्रभाव-प्रधान कृष्ण-भक्ति तो उसमें डूबे बिना तिरने की आशा ही छोड़ बैठे रहे—

"तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग॥"

खैर कुछ भी सही; भक्ति में रीति का यह सम्मिलन काव्य-माधुर्य की दृष्टि से अद्भुत ही रहा। नैतिक दृष्टि से उसे कैसा भी मान लिया जाये, परंतु यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस भक्ति-पद्धति ने शताब्दियों से परितप्त जनता को शांति अवश्य दी होगी। अपने भगवान् के साथ भक्त ने रास में निकटता का अनुभव प्राप्त करके अपने उद्विग्न हृदय की पीड़ा को शांत अवश्य किया होगा। भक्ति का यही तो एक द्वार था जिससे विधर्मी भी प्रवेश कर सकते थे—डरते-डरते नहीं, हंसते-गाते और अपनों के मोह को भुलाते। रहीम-रसखान पुरुषों ही की क्या बात, इस शृंगारिक प्रभाव ने तो मुस्लिम नारियों को भी इस युग की आत्मा बनकर लोकलाज के बंधन तोड़कर कान्ह का एकतान गान गाने को विवश कर दिया था। भक्ति का यह उन्मुक्त द्वार था जिसमें प्रवेश करने के लिये स्त्री और शूर

के मार्ग में धार्मिक विधान की कोई धारा बाधक नहीं रह गई थी।

हमारे विचार में साहित्य की शृंगारिक और रीति संबंधी विवेचना की पृष्ठभूमि का आधार मुगलसम्राट् अकबर का शासनकाल और प्रमुखतया उसका दर्बार रहा। उसके समय का कौनसा कवि और महाकवि-भक्त शृंगारी और रीति-विवेचक है जिसे उसने अपने हाथों सम्मान न दिया हो! भक्तों के पास तो वह स्वयं चलकर पहुंचा ही, प्रसिद्ध रीति-कवि केशव के पधारने पर उसने तो उसे भी महान् सम्मान देकर खुले तौर से राज-सभा में आने की छुट्टी दे दी। यही वह राजसभा थी जहां से महापात्र नरहरि बंदीजन के पद-पाठ पर मुगल-शासन में सदा-सदा के लिये गोवध-निषेध की आज्ञा प्रचरित होती है। यही वह राजसभा है जहां रहीम, गंग, बीरबल, टोडरमल, पृथिवीराज और मनोहर कवि अपनी सरस वाणी का स्रोत बहाते हैं।

रामनामलेवा कबीर को सिकंदर लोधी ने भट्ठी में फिकवा दिया होगा, परंतु अब वह मजहबी दीवानों का समय नहीं रह गया था। इस मुगलकाल में धार्मिकता का वाह्याडंबर किस प्रकार टूट-फूट रहा होगा वह रहीम, रसखान, शेख रंगरेजन और ताज की कविताओं में स्पष्ट है। सचमुच हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की दृष्टि से भारतीय इतिहास का यह काल अप्रतिम रहा होगा। भाषा और संस्कृति का यह समन्वय कितना प्यारा था;

अकबर मूंछें रखता और तिलक लगाता था तो जयपुर के शासक मिर्जा और शाह की उपाधियों से विभूषित होने में गौरव अनुभव करते थे। जातियों के एकीकरण का उद्योग अकबर के काल की एक बेजोड़ मूल्य वाली वस्तु है। यदि कबीर लोधी-काल में जन्म न लेकर अकबर के समकालीन हो जाते तो भारत के भाग्य-निर्माण का बड़ा भारी कार्य संपन्न हो गया होता। अच्छा, सामयिक राज-नीति ने साहित्य की नीति पर क्या प्रभाव उत्पन्न किया, यह जान लेने के पश्चात् हमने यह और बताना है कि जिस प्रकार इस काल की भक्ति पर रीति का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा उसी प्रकार रीति पर भी भक्ति अपनी छाया डालती ही रही। इस युग का कोई भी रीति-कवि इस भक्ति से अछूता रह गया हो यह असंभव-सी बात है। चाहे भक्ति की दृष्टि से, चाहे रूप-सौंदर्य की कल्पना से और चाहे शृंगार की दृष्टि से सभी रीतिकारों ने कृष्ण-भक्ति का भार ग्रहण किया। ऐसे अनेक कवियों का उल्लेख तो हम पिछले अध्याय में कर भी आये हैं; कुछ और भी ऐसे कवि हैं जो रहे तो रीति के ही गौरव हैं, परंतु अपने उस रीति गढ़ में भी उन्होंने एक कोने में कृष्ण-मंदिर का निर्माण किया है। बिहारी, देव, रघुनाथ, श्रीधर (मुरलीधर), मतिराम, चंदन, पद्माकर, और नवलसिंह कायस्थ ऐसे ही कविपुंगव थे। वीर रसावतार चंद्रशेखर को भी इसी प्रकार का कृष्ण-कवि समझना चाहिये

इनमें से बिहारी, देव और पद्माकर का नाम तो सर्वज्ञात है ही।

इस स्थल पर बिहारी की गणना से, संभव है, विचारकों के हृदय में संदेह जगे, परंतु संदेह की यहाँ कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती। निःसंदेह उनकी सतसई शृंगार का एक अप्रतिम ग्रंथ है, परंतु उसकी रचना में भी उन्होंने राधा-कृष्ण का प्रसाद लिया ही होगा —

"हुकुम पाय जय साह को, हरि-राधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सँवाद॥" (सतसई)

फिर सतसई में कोरी शृंगारिकता ही तो नहीं, उसमें भक्त की दीन वाणी की प्रार्थना भी सम्मिलित है—

"मोहूँ दीजे मोष, जो अनेक पतितन दियो।
जो बाँधे ही तोष, तो बाँधो अपने गुनन॥"

इनके परिचय के संबंध में यह दोहा पर्याप्त होगा —

"जन्म ग्वालियर जानिये, खंड बुँदेले बाल।
तरुनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल॥"

इनका जन्म संवत् १६६० के लगभग हुआ। इनकी आयु का एक अमूल्य भाग जयपुर की राजसभा में कटा। उनका रचा केवल एक ग्रंथ है "बिहारीसतसई।" इस ग्रंथ में विविध विषयों से संबंधित ७१२ दोहे प्राप्त हैं। प्रमुख विषय शृंगार-वर्णना है, परंतु भक्ति के भी उत्कृष्ट पद उसमें हैं। इस ग्रंथ का

महत्त्व इसी से स्पष्ट हो सकता है कि इस पर लगभग ४४ कवियों ने टीकाएं तैयार कीं।

देव—इनका पूरा नाम देवदत्त था। संवत् १७३० में इटावे में जन्म हुआ। देव बड़े प्रतिभाशाली कवि थे। इन्होंने देश के अनेक प्रांतों का भ्रमण किया था। उनका अनेक दर्बारों से संबंध रहा, परंतु विशेष सम्मान उन्हें भोगीलाल के आश्रय में ही मिला। इनके रचे ग्रंथों की संख्या कोई ७२ और कोई ५२ बतलाते हैं, परंतु मिलते कुल २७ ही हैं। देव केवल रीति-विवेचक रहे हों, सो ऐसी बात नहीं। उनके रचे तत्वदर्शन-पचीसी, आत्मदर्शनपच्चीसी, जगद्दर्शनपच्चीसी, ब्रह्मदर्शन-पच्चीसी, वैराग्यशतक, नीतिशतक और देवमायाप्रपंच (नाटक) आदि शांत-रस-परिपूर्ण रचनाएं हैं। इसी प्रकार राधिका-विलास और अष्टयाम की रचना उनकी कृष्ण संबंधिनी रचनाएं हैं।

पद्माकर—रीतिकाल के सर्वप्रिय कवि माने गये। बांदे में संवत् १८१० में उत्पन्न हुए और कानपुर में गंगातट पर कुष्ठ रोग से पीड़ित होकर संवत् १८९० में शरीर त्याग दिया। ग्वालियर, उदयपुर, सितारा आदि अनेक दर्बारों से इन्होंने खूब धन-मान पाया। जहां इन्होंने रीति संबंधी पद्माभरण जैसा ग्रंथ बनाया वहां बीर रस की अद्भुत रचना "हिम्मतबहादुर-विरुदावली" की हुभी रचना की। पीछे भक्ति की ओर झुकाव आ तो 'प्रबोध

पचासा', 'गंगालहरी' और 'रामरसायन' (वाल्मीकि रामायण के आधार पर दोहे-चौपाइयों का चरित-काव्य) की रचना हुई। वही वाणी का माधुर्य कृष्ण-भक्ति के पदों में भी उमड़ा। उनकी कृष्ण-भक्ति की रचना फुटकर पदों में ही रही, परंतु हमारे साहित्य में उन पदों का एक मोल है। उनकी-सी रसमाधुरी और भक्ति में कातर वाणी, साथ ही मार्मिक प्रभाव अपने ढंग पर आप ही रहे हैं।

इसी प्रकार प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रबंध-काव्य "जंगनामा" के लेखक प्रयागनिवासी **श्रीधर (मुरलीधर)** ने भी कृष्णलीला के फुटकर पद्यों की रचना की। इनका कविताकाल संवत् १७६७ के लगभग माना जाता है।

कन्नौजनिवासी इच्छाराम के सुपुत्र **मनीराम मिश्र** ने संवत् १८२६ में छंद-छप्पनी और आनंद-मंगल की रचना की। इनमें दूसरा ग्रंथ कृष्ण-साहित्य के आदिस्रोत भागवत के दशम स्कंध का सरस पद्यानुवाद है।

चंदन जिला शाहजहांपुर के नाहिल पुवायाँ के रहने वाले बंदीजन थे। गौड़नरेश केसरीसिंह के आश्रित थे। हिंदी के साथ फारसी के भी अच्छे शायर थे। फारसी कविता में संदल उपनाम रखते थे। कविता-काल संवत् १८२० से १८५० तक माना जाता है इन्होंने जहां काव्य भरण और शृंगारसागर

जैसे अलंकार और रस संबंधी ग्रंथों की रचना की वहां साथ ही "कृष्णकाव्य" नामक ग्रंथ की भी रचना की।

झांसीनिवासी तथा समथरनरेश राजा हिंदूपति के आश्रित **नवलसिंह कायस्थ**, जिन्होंने लगभग ४० ग्रंथों की रचना की, अच्छे चित्रकार भी थे। इनकी रचना का झुकाव प्राय: राम-भक्ति की ओर रहा; साथ ही कृष्ण-भक्ति के संबंध में रासपंचाध्यायी, व्रजदीपिका और रुक्मिणी-मंगल की भी रचना की। इनका रचनाकाल संवत् १८७२ और १९२० के मध्य में रहा है।

इसी प्रकार पटियालानरेश के आश्रय में रहने वाले बीर-काव्य "हम्मीरहठ" के प्रसिद्ध लेखक **चंद्रशेखर वाजपेयी** ने भी नखशिख और वृंदावनशतक की रचना करके कृष्ण-काव्य-मंदिर के लिये पुष्प अर्पित किये। इनका काव्य पर अत्यंत प्रौढ़ अधिकार था। ये वीररस के साथ ही शृंगार के भी चतुर चितेरे थे, परंतु अधिक ख्याति उनकी वीररचना हम्मीरहठ ही से है। इनका जन्म संवत् १८५५ में हुआ और मृत्यु संवत् १९६२ में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शृंगार युग में शृंगार और कृष्ण-भक्ति का कुछ अन्योन्याश्रयी भाव का-सा संबंध हो गया था। जहां रीतिकारों ने रीति संबंधी रचना प्रस्तुत की वहां वे कृष्ण को भी लाये और जहां कृष्ण को आधार बनाकर

चले वहाँ वे रसिकता से इतने सराबोर हो गये कि उनकी भक्ति संबंधी रचना को शृंगार ने दबा ही लिया। फिर भी, इस युग में "कृष्ण" कवियों में इतने प्रिय रहे कि विषय-संबंध के बिना भी अनेक ग्रंथों का नामकरण तक उनके नाम के ही आधार पर कर डाला गया। उदाहरण के लिये दिल्ली-निवासी **वीरकवि श्रीवास्तव** की संवत् १७७९ में रची हुई कृष्ण-चंद्रिका और संवत् १८३८ की रची हुई महेबानिवासी **गुमान मिश्र** की कृष्ण-चंद्रिका। इनमें पहली रचना रस और नायिका-भेद संबंधी है और दूसरी पिंगल संबंधी। इस प्रकार की रचनाओं में उदाहरणों के पदों में कृष्ण का उल्लेख-मात्र कर देना ही कवियों को अभिप्रेत रहा है। ऐसा रखना चाहे कैसा भी हो, परंतु इसमें कृष्ण-चरित्र की व्यापकता का जो भाव निहित था उसकी स्थिति से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता।

☆

तृतीय दर्शन

आमुख

विक्रम की १६वीं शती के उत्तरार्द्ध में हमारे साहित्य में एक नया परिवर्तन आया। पहले हम बता आये हैं कि हमारे साहित्य में भक्ति का आविर्भाव विदेशी शासन से उत्पन्न हुई हार्दिक विक्षोभ-भावना की प्रतिक्रिया-मात्र थी। उत्तर-पश्चिम के पथ से आने वाली आततायी विदेशी सत्ता का प्रतिरोध किया गया था वीरगीत गाकर और उस सत्ता का भार-वहन किया था मानों पश्चात्तापभरे भक्ति-गान की तान लगाकर। वस्तुतः भक्ति का आरंभ तो इस काल की निराशित जनता के हृदय की विश्रांति मिटाने के लिये हुआ था—"हारे का हरिनाम भरोसा!" मुस्लिम-आक्रमणों के समय मंदिरों के पुजारियों ने देश के खंड-सत्ताधारियों को भरोसा दिया था कि ज्यों ही शत्रु आगे बढ़ेगा त्यों ही हमारी मूर्तियां साक्षात् अलौकिक शक्ति का चमत्कार प्रदर्शित कर उठेंगी, परंतु ऐसा हुआ कहां! सोमनाथ,

मथुरा, काशी और अयोध्या के धर्म-स्थान क्रम-क्रम से इस्लाम की तलवार के जौहर के आगे बिछ गये। मंदिरों की टूटती हुई मूर्तियों ने विश्वस्त भक्तों के हृदयों को भी टूक-टूक कर डाला। उनके हृदयों से बिखरी हुई रोदन-ध्वनि से उनके हृदयों की पीड़ा भी बिखरी और इसी रोदन-ध्वनि ने कविता-माधुरी का स्वरूप लेकर जनता के हृदय की मधुर, परंतु मर्मस्वर-पूर्ण ध्वनि का प्रकाशन भी किया। पर शेषनाग की कोमल शय्या पर पौढ़े लक्ष्मीपति न तो भक्तों के रोदन पर पसीजे ही और न स्वर-माधुरी पर रीझे ही। हरि को भक्तों का रोदन जगा न सका और उनका गान रिझा न सका। भगवान् की इस उदासीनता पर भक्तों ने अनेक उपालंभ भी दिये, परंतु भगवान् तो सचमुच ही पत्थर के हो चुके थे। भक्तों के विश्वास को एक भारी ठेस लगी। उनकी विचार-सरिता के स्रोत ने इस निराशा की चट्टान से टकराकर अपनी गति बदल ली। रीति-कवियों ने इसी स्रोतस्विनी में मज्जन किया और तत्कालीन विलासी शासकों के रंगीनीभरे दर्बारों में मनबहलाव की साधना आरंभ कर दी। भक्तिकाल से साथ चले आये कृष्ण और उनकी राधा अभी भी उनसे दूर नहीं थे, परंतु समय की रंगीनी से उनका चित्र भी बदल गया। जनता के आराध्य देव छबीले नायक बन गये, तो उनकी शक्ति का प्रतीक राधा जगत्-विमोहिका-नायिका! बस, सारा रीति-काल ही नायक-नायिका

भेदोपभेद की कल्पना में बीत गया। इस काल के कृष्ण-भक्तों में कविता का चमत्कार तो प्रमुख रहा, परंतु हृदय की अपील उतनी जोरदार न रह पायी। रीति-कालिक भक्त अपनी ही रीति के रहे। हम उनकी मनोवृत्तियों को दोष नहीं देते, परंतु इतना अवश्य कहते हैं कि इनमें से न तो कोई सूर ही हो सका और न नंददास ही। इनमें न मीरा की तन्मयता ही आ पायी और न रसखान का-सा रिझवार ही। अस्तु।

उन्नीसवीं शती के अंत तक भक्तों के मस्तिष्कों से रीति का खुमार हटना आरंभ हो गया। इस समय देश एक नई राजनैतिक क्रांति का पूरा प्रभाव ग्रहण कर चुका था। पहली गुलामी का पंक तो अभी धुल पाया नहीं था, सुदूर पश्चिम से आई एक और विदेशी जाति ने देश में पंजे जमा लिये। पुर्तगीज़, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज क्रम-क्रम से देश में घुसने आरंभ हुए और देश के जिस अंग में निर्बलता का अनुभव किया उसी में रोग की भांति जम गये। इनमें से पीछे आकर डच तो सदा के लिये ही चले गये। पुर्तगीज़ और फ्रांसीसी भी अपने-अपने साथियों की छल-नीति के बाधक होने से अधिक विस्तार न पा सके। हां, अंग्रेज ही एक ऐसा रहा जो संक्रामक रोग की भांति देश के अंग-अंग में रम गया। मुसलमान देश में एक निश्चित मार्ग से आये थे; वे डंका बजाकर देश में घुसे थे। उन्होंने देश को तलवार की धार से जीता था, परंतु युरोपियन जातियों का कोई निश्चित मार्ग नहीं था जिसे

सरलता से बंद ही कर दिया जा सकता। फिर, वे आये भी तो किसी और ही बाने में थे। वे या तो यात्री थे या धर्मोपदेष्टा और या अधिक रूप में व्यौपारी। इन तीनों रूपों के साथ उनमें जो प्रपंच-भावना छिपी थी उसका या तो देश वालों को ज्ञान ही नहीं था और यदि था भी तो बहुत ही कम। इन व्यौपारियों की रीति-नीति में जो छल की प्रच्छन्नता थी उसने अपने विरोध का अवसर ही नहीं दिया। यहां तो एक आंतरिक प्रभाव जनता में इस प्रकार से उत्पन्न किया कि जनता ने उसे स्वयं ही उपयोगी समझकर अपने ऊपर लाद लिया। प्रसिद्ध इतिहासकार सीले का कथन है कि "यह भारत की स्वर्ण-चिड़िया अंग्रेजों के हाथों में अनायास ही आ गई।" इस अनायासता का रहस्य अंग्रेज की केवल प्रच्छन्न नीति में छिपा हुआ था। फल यह हुआ कि भारतीय जनता शरीर से पहले आत्मा को और आत्मा से पहले शरीर को पश्चिम के हाथों में बिका बैठी। धीरे-धीरे पश्चिमी प्रभाव देश की आत्मा में व्यापने लगा। देश के जीवन के साथ-साथ उसके साहित्य ने भी इस प्रभाव का आश्रय लिया। केवल "एकस्रोत-वाहिनी" कविता इस काल का साहित्य नहीं रह गई थी। हमारे जीवन की समस्याओं की भांति हमारा साहित्य भी आज के दिन पेचीदगियों से परिपूर्ण हो गया था। वह हमारे जीवन का प्रतीक बनकर खड़ा था। उसमें हमारी अनेक समस्याएं व्यक्त होती थीं। इस व्यक्तिकरण के लिये पद्य की वाणी समर्थ नहीं थी। इसीलिये इस अवसर पर आकर गद्य का

स्वरूप संपुष्ट किया गया और धीरे-धीरे पद्य के स्थान पर गद्य का आसन जमने लगा। हमारे इस वर्तमान में हमारे जीवन की समस्याएं भी तो पहले की अपेक्षा अधिक जटिल होती गई हैं। उनमें पहले की अपेक्षा आज कहीं अधिक व्यापकता है। तभी तो हमारे गद्य और पद्य भी अनेक धाराओं में प्रस्रवित हो चले हैं। इसी नवीनता ने हमें नई चेतना भी दी। आज के युग में सभी पुरानापन केवल प्राचीनता के कारण मान्य ठहराया जा सके, सो बात नहीं रह गई। नवीनता के साथ ही प्राचीनता का संबंध भी चलता जरूर रहा। हां, यह दूसरी बात है कि नवीनता के मोह ने धीरे-धीरे प्राचीनता को दुर्गुण-युक्त सिद्ध करने की चेष्टा करके उसे स्थानच्युत किया है, परंतु आरंभ में हम यही सुनते हैं—"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्य-वद्यम्।" इसीलिये यहां पर विश्वास और तर्क साथ-साथ चलते दिखाई देते हैं। इसी आधार पर कृष्णकाव्य में भी दृष्टिकोण का परिवर्तन हुआ। इस युग में पुरानी तान से अलापने वाले इने-गिने ही रह गये, परंतु उनकी वाणी में कोई आकर्षक स्वर तो था ही नहीं। उनके यहां तो वही पिष्ट-पेषण चलता रहा। उन्होंने तो केवल परंपरागत प्रथा-पूर्ति ही की, इससे अधिक और कुछ भी नहीं। इस प्रकार इस युग की कृष्ण-कविता दो प्रमुख भागों में बंटी हुई प्रतीत होती है। एक भाग उन कवियों का समझना चाहिये जिनमें भक्तों की परंपरा प्रधान है। और दूसरा भाग है उन कवियों का जिन्होंने कृष्ण-साहित्य को एक

नवीन चेतना दी। भक्त-परंपरा के पालने वालों में शाह कुंदन-लाल 'ललितकिशोरी', भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, जगन्नाथ-दास रत्नाकर और सत्यनारायण 'कविरत्न' का नाम प्रमुख है। दूसरे विभाग में कवियों की संख्या तो अत्यल्प है, परंतु उनका स्थान बड़े महत्व का है। युग-प्रतीक कविसम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय और श्री मैथिलीशरण गुप्त इसी पक्ष के हैं। कृष्ण-काव्य-धारा में कविसम्राट् का दृष्टिकोण सर्वथा नवीन ही रहा है। उनके 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण "भगवान्" न होकर महान् महत्वपूर्ण पुरुषोत्तम ही रहे हैं। गुप्त जी की स्थिति के संबंध में यही कह सकते हैं कि वे नये पुराने के मिश्रण हैं। उनकी आत्मा में सगुण राम रमे हैं, परन्तु उनकी राष्ट्रीयता के चोले में उनके कृष्ण केवल "राधा के कृष्ण" नहीं रह गये हैं; उनके कृष्ण में महाभारत के नेता का गौरव है। यही उनकी नवीन चेतना का प्रतीक है।

भाषा-परिवर्तन की दृष्टि से तो इन दोनों कवियों का स्थान बहुत ही ऊंचा है। कृष्णकाव्य में चला आ रहा ब्रजभाषा का अखंड राज्य यहां आकर छिन्न-भिन्न हो गया। उपाध्याय जी में ब्रजभाषा और खड़ी बोली, दोनों ही में काव्य रचना की समर्थ शक्ति है। उनकी कृष्णकाव्य संबंधी प्रथम रचना ब्रज-भाषा में ही हुई, परंतु आगे चलकर वे खड़ी बोली के ही हो रहे।

कृष्ण-कविता का सदा-संगी शृंगार उसके साथ आदि-

काल से लगा आ रहा था। यूं तो राधा-कृष्ण की रूप-माधुरी में उसका रंग अब भी स्पष्ट है, परंतु भारतेंदु के पश्चात् वाले कवियों ने वीर, शांत और हास्य को भी स्थान दिया। कृष्ण-काव्य की परंपरा में चली आ रही गीति-प्रथा और भ्रमरगीत की अन्योक्ति-पद्धति आज भी वर्तमान है। ललितकिशोरी और भारतेंदु में ही नहीं, अपितु आज के कविरत्न और वियोगीहरि की रचना में भी सूर के पदों की आभा है। कविरत्न और जगन्नाथदास रत्नाकर ने भ्रमरगीत-पद्धति पर भी रचना की।

इस काल में रीतिकालीन अलंकार-पद्धति का मोह भी धीरे-धीरे छूटता ही गया; भाषा पर बाहरी उपकरणों का लदा हुआ भार धीरे-धीरे हटता ही गया। छंदों में भी परिवर्तन आया। गीति का सर्वाधिकार छिन गया। दोहा, सोरठा, चौपाई तो प्रयोग में पहले ही से आ रहे थे; कवित्त और सवैये भी रीतिकाल में ग्रहण किये जा चुके थे। इस समय में आकर ताटंक, सार, गीतिका, हरिगीतका और रूपमाला आदि का व्यवहार भी बढ़ा। इतना ही नहीं, वर्णिक छंदों ने भी कृष्णकाव्य में प्रवेश किया और पूरा-पूरा सहयोग प्रदान किया। उपाध्याय जी ने अपने प्रिय-प्रवास में द्रुत-विलंबित, मंदाक्रांता, मालिनी, वसंततिलका, वंशस्थ और शार्दूलविक्रीड़ित आदि का प्रयोग किया। इन छंदों में कविसम्राट् ने अतुकांतता का प्रयोग किया था। उनकी खड़ी बोली में संस्कृत के वृत्त अतुकांत रूप में हमारे साहित्य की एक नवीन वस्तु रहे। तात्पर्य यह है कि आज के युग की

कृष्ण-कविता में बहुत कुछ नयापन रहा और बहुत कुछ मौलिकता रही। आदि में उसमें पुरानेपन का मोह भी चल रहा था और आगे उसमें नयेपन का मिश्रण भी होता गया। आगे इसी नये और पुराने को कुछ अधिक स्पष्ट करके दिखाने का प्रयत्न करेंगे।

☆

प्रथम अध्याय

पुरानी परंपरा के कृष्ण-कवि

कुंदनलाल

(ललितकिशोरी)

कुंदनलाल लखनऊ के रहने वाले थे। इनका जन्म एक संपन्न घराने में हुआ था। इनके एक छोटे भाई थे, जिनका नाम फुंदनलाल था। दोनों भाइयों में अटूट और अगाध स्नेह था। फुंदनलाल की भ्रातृ-भक्ति पर भारतेंदु जी ने लिखा है—

"त्रेता में लछिमन करी सो इन कलियुग मांहि किय।"

इनके पड़बाबा बिहारीलाल शाह लखनऊ के नव्वाब के जौहरी थे। इतना संपन्न और भरा-पूरा घर छोड़कर दोनों भाई संवत् १९२१ में वृंदावन में आ रहे। दोनों भाइयों ने यहां आकर लगभग दस हजार पदों में भगवद्‌लीला गाई। यहां पर इन्होंने एक सुंदर कला-पूर्ण मंदिर भी निर्माण कराया। ललित-किशोरी संवत् १९३० में परलोकगामी हुए।

कुंदनलाल रचना में अपना नाम ललितकिशोरी रखते थे। इनकी रचना रास-विलास, समय-प्रबंध और अष्टयाम संबंधी है। छद्मलीला के संबंध में तो उनकी रचना बहुत ही सुंदर रही है। इनकी रचना में ब्रजभाषा के अतिरिक्त खड़ी बोली, उर्दू और मारवाड़ी का भी रूप मिलता है। संस्कृत का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था।

फुटकल पदों के अतिरिक्त, इन्हों के 'वृहत रसकलिका' और 'लघु रसकलिका' नाम के दो ग्रंथ और भी मथुरा से प्रकाशित हुए हैं।

ललित जी की रचना में सरसता, सरलता और लालित्य का अच्छा समन्वय हुआ है। उसमें उनका भक्त-हृदय झांकता हुआ प्रतीत होता है। उनके पदों में लखनऊ की नजाकत और वृंदावन का माधुर्य दोनों ही अनुपम रूप में मिलते हैं। इसे उनके निम्न पद में देखिये—

"मोहन के अति नैन नुकीले।
निकसे जात पार हियरा के, निरखत निपट गंसीले॥
ना जानौं, बेधन अनियन की, तीन लोक तें न्यारी।
ज्यौं-ज्यौं छिदत मिठासि हिये में, सुख लागत सुकुमारी॥
जब सौं जमुनाकूल विलोक्यौ, सब निसि नींदि न आवै।
उठत्ति मरोर, बंक चितवनियौ, उर उतपात मचावै॥
ललितकिसोरी, आज मिलै, जहं घर कुल-कानि बिचारौ।
आगि लगौ यह लाज निगोडी, दृग भरि स्याम निहारौ॥"

फुंदनलाल

(ललितमाधुरी)

फुंदनलाल उपनाम ललितमाधुरी, ललितकिशोरी के छोटे भाई थे। ये भी अपने बड़े भाई के साथ ही वृंदावन चले आये थे। बड़े भाई के प्रति इनका अचल और अटल प्रेम विख्यात है। प्रसिद्ध है कि भाई की मृत्यु के उपरांत इन्होंने जो भी रचना की उस पर प्राय: बड़े भाई ललितकिशोरी का ही नाम रखा। इसी परमभ्रातृत्व के ऊपर तो भारतेंदु ने उन्हें कलियुग में लक्ष्मण का अवतार कहा था।

इनका रचा कोई पृथक् ग्रंथ तो है नहीं। ललितकिशोरी के पद-समुच्चय में ही यत्र-तत्र इनके पद मिलते हैं। इनकी कविता में भी अपने भाई जैसी सरलता और रंगीनी मिलती है। उनकी रचना का एक उदाहरण देते हैं—

"बांकी अदा पै मैं बलिहारी।
बांकी पाग, केसलट बांकी, बांकी मुकुट छवि प्यारी॥
बांकी चाल, बांकि ही चितवन, बांकि मुरलिया धारी।
कहँलौं ललितमाधुरी बरनौं, आपुहि बांके बिहारी॥"

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र

हिंदी साहित्य के इतिहास में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का स्थान बड़े मार्के का है। कृष्ण-काव्य-धारा के प्रवाह को गति देने

कुंदनलाल रचना में अपना नाम ललितकिशोरी रखते थे। इनकी रचना रास-विलास, समय-प्रबंध और अष्टयाम संबंधी है। छद्मलीला के संबंध में तो उनकी रचना बहुत ही सुंदर रही है। इनकी रचना में ब्रजभाषा के अतिरिक्त खड़ी बोली, उर्दू और मारवाड़ी का भी रूप मिलता है। संस्कृत का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था।

फुटकल पदों के अतिरिक्त, इन्हों के 'वृहत् रसकलिका' और 'लघु रसकलिका' नाम के दो ग्रंथ और भी मथुरा से प्रकाशित हुए हैं।

ललित जी की रचना में सरसता, सरलता और लालित्य का अच्छा समन्वय हुआ है। उसमें उनका भक्त-हृदय झांकता हुआ प्रतीत होता है। उनके पदों में लखनऊ की नज़ाकत और वृंदावन का माधुर्य दोनों ही अनुपम रूप में मिलते हैं। इसे उनके निम्न पद में देखिये—

"मोहन के अति नैन नुकीले।

निकसे जात पार हियरा के, निरखत निपट गंसीले॥
ना जानौं, बेधन अनियन की, तीन लोक तें न्यारी।
ज्यौं-ज्यौं छिदत मिटासि हिये में, सुख लागत सुकुमारी॥
जब सौं जमुनाकूल बिलोक्यौ, सब निसि नींदि न आवै।
उठति मरोर, बंक चितवनियौ, उर उतपात मचावै॥
ललितकिसोरी, आज मिलै, जहं या कुल-कानि बिचारी।
आगि लगै यह लाज निगोड़ी, दृग भरि स्याम निहारौ॥"

फुंदनलाल

(ललितमाधुरी)

फुंदनलाल उपनाम ललितमाधुरी, ललितकिशोरी के छोटे भाई थे। ये भी अपने बड़े भाई के साथ ही वृंदावन चले आये थे। बड़े भाई के प्रति इनका अचल और अटल प्रेम विख्यात है। प्रसिद्ध है कि भाई की मृत्यु के उपरांत इन्होंने जो भी रचना की उस पर प्रायः बड़े भाई ललितकिशोरी का ही नाम रखा। इसी परमभ्रातृत्व के ऊपर तो भारतेंदु ने उन्हें कलियुग में लक्ष्मण का अवतार कहा था।

इनका रचा कोई पृथक् ग्रंथ तो है नहीं। ललितकिशोरी के पद-समुच्चय में ही यत्र-तत्र इनके पद मिलते हैं। इनकी कविता में भी अपने भाई जैसी सरसता और रंगीनी मिलती है। उनकी रचना का एक उदाहरण देते हैं—

'बांकी अदा पै मैं बलिहारी।
बांकी पाग, केसलट बांकी, बांकी मुकुट छवि प्यारी॥
बांकी चाल, बांकि ही चितवन, बांकि मुरलिया धारी।
कहंलौ ललितमाधुरी बरनौं, आपुहि बांके बिहारी॥"

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र

हिंदी साहित्य के इतिहास में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का स्थान बड़े मार्के का है। कृष्ण-काव्य-धारा के प्रवाह को गति देने

में भी उन्होंने जो गौरवपूर्ण कार्य किया उसका कम महत्व नहीं। यदि उनका परिचय संक्षिप्त रूप में देना हो तो कहना होगा—"हिंदी में वे क्रांति का एक संदेश लेकर उतरे थे।" उन्हें आधुनिक गद्य का जन्मदाता तो कहा ही जाता है, वैसे कविता-क्षेत्र में नवीनता का जन्मदाता भी उन्हें ही मानना अधिक उपयुक्त होगा।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म संवत् १६०७ में काशी-धाम में हुआ था। खड़ी बोली के प्रथम नाटक "नहुष नाटक" के लेखक बाबू गोपालचंद्र, उपनाम गिरधर या गिरधारन, उनके पिता थे। गोपालचंद्र परमवैष्णव, उदार, सदाचारी और श्रेष्ठ कवि थे। पिता के संस्कारों का पूरा-पूरा प्रभाव पुत्र पर भी पड़ा। अपने एक पद द्वारा उन्होंने अपने संबंध में वल्लभ कुल के अनन्य वैष्णव होने की घोषणा की है—

"हम तो मोल लिये या घर के।
दास-दास श्री वल्लभ कुल के, चाकर राधावर के॥
माता श्री राधिका, पिता हरि, बंधुदास गुन करके।
हरीचंद तुमही कहवावत, नहिं विधि के नहिं हरके॥"

उदारता के संबंध में समझिये कि उन्होंने सभा-सोसायटियों द्वारा अनेक कवियों और रचयिताओं को पुरस्कृत तो किया ही, साथ ही लोकोपकार-भावना से काशी में एक निःशुल्क स्कूल भी स्थापित किया। वही स्कूल आज हरिश्चंद्र इंटर कालेज

के नाम से विख्यात है। उधर निर्धनों के लिये संवत् १९२५ में काशी में होम्योपैथिक दातव्य चिकित्सालय भी खुलवाया।

इनके संबंध में विख्यात है कि इन्होंने केवल ५ वर्ष की आयु में यह दोहा बनाया था—

"लै ब्योंड़ा ठाढ़े भये, श्री अनिरुद्ध सुजान।
बानासुर की सेन को, हनन लगे बलवान॥"

इसी कवित्व-शक्ति ने पिता को पुत्र के लिये यह वर देने के लिये विवश कर दिया था कि "हरिश्चंद्र! तू मेरे नाम को बढ़ावेगा।"

९ वर्ष की आयु हुई थी कि पिता का देहांत हो गया। इतनी अल्पायु में घर-बार का सारा भार इन्हीं के कंधों पर आ गया। शिक्षा-दीक्षा प्रायः घर पर ही हुई। वैसे कुछ दिनों तक बनारस क्वींस कालेज में भी शिक्षा प्राप्त की। कुछ दिनों तक शिवप्रसाद सितारेहिंद से अंग्रेजी भी पढ़ते रहे। इसीलिये उन्हें गुरुवत् भी मानते रहे, परंतु पीछे आकर मतभेद के कारण कुछ विरोध हो गया और वह विरोध यहां तक बढ़ा कि एक दूसरे के शत्रु तक हो गये। ११ वर्ष की आयु में पढ़ना-लिखना छोड़कर सकुटुंब जगन्नाथ जी की यात्रा की। इस यात्रा से उन्हें बंगला सीखने का चाव उत्पन्न हुआ। प्रतिभा-संपन्न इस अल्पायु भावी कवि ने अपनी ही लग्न से बंगला सीखी। हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी का अभ्यास तो पिता के आगे से ही चल रहा

था; अब आगे मराठी, गुजराती, मारवाड़ी और पंजाबी का अभ्यास भी कर लिया। उनकी रचना से ज्ञात होता है कि उन्हें उर्दू का भी अच्छा ज्ञान था। और अपनी उर्दू-कविता में वे "रसा" नाम से चलते थे।

संवत् १६२१ में १४ वर्ष की आयु मे उनका विवाह हो गया और बाबू जी गृहस्थी बन गये। संतानें भी कई हुईं, परंतु सिवाय एक कन्या के कोई नहीं बची। इसी अभाव ने उनमें फक्कड़पन उत्पन्न कर दिया। बाबू हरिश्चंद्र कलकत्ते के उसी जगतसेठ अमीचंद के वंशज थे जिसने क्लाइव के साथ मिलकर बंगाले की नव्वाबी से बहुत कुछ कमाया और लूटा था। हरिश्चंद्र आज लाखों के सर्वाधिकारी थे। घर में रोकने-टोकने वाला कोई भी नहीं था। भाई था छोटा, मां कुछ कहती ही नहीं थी। इन्होंने जी भरकर खर्च किया। प्रतिभा पर रीझने वाले मैत्री में आने लगे; बस, मानों हिंदी का भाग्य जागने लगा। मित्रों और सद्कवियों ने बाबू जी के पुरस्कारों से प्रोत्साहन पाकर हिंदी का भंडार खूब भरा। स्वयं भी इस धन से मन-माने भोग भोगे। खुले हाथों खर्च करते देखकर काशीनरेश ने समझाकर कहा था—"बबुआ! घर देखकर खर्च किया करो।" इन्होंने उत्तर में कहा था—हजूर इस धन ने मेरे पूर्वजों को खा लिया, अब इसे मैं खा डालूंगा।" अस्तु। जो भी हो, परंतु इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका हृदय बहुत खुला हुआ था।

वे किसी को देते भी थे तो बड़े मुक्त हाथों से। महा-महोपाध्याय प० सुधाकर द्विवेदी ने उनकी एक कवि-गोष्ठी में एक दोहा सुनाया था तो, १०० रुपये का पारितोषिक पाया था। दोहा यह था —

"राज घाट पर बधत पुल, जहं कुलीन को ढेर।
आज गये कल देखि कै, आजहिं लौटे फेर॥"

यह मौजी वृत्ति यहां तक बढ़ी कि किसी को हीरे की अंगूठी निकालकर दे दी तो किसी को दुशाला ही भेंट कर दिया। और यह उचित भी था क्योंकि गुणी ही गुण को परख सकता है।

लिखने का तो उन्हें बड़ा ही भारी व्यसन था। उनकी लेखनी के चमत्कार को देखकर डा० राजेंद्रपाल मित्र ने इन्हें "लेखन-यंत्र" की उपाधि दी थी। यही लग्न थी, तभी तो अपनी ३५ वर्ष की अल्पायु में उन्होंने १७५ ग्रंथों की रचना कर डाली थी। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में ही रचना की। हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत, उर्दू, बंगाली, गुजराती, पंजाबी, मराठी आदि भाषाओं में भी उन्होंने अच्छी रचना की। इसी महान् साहित्यसेवा के उपलक्ष्य में देश ने उन्हें संवत् १९३७ में "भारतेंदु" की उपाधि से विभूषित किया था।

उनकी रचना में कृष्णकाव्य

जैसा कि हम बता चुके हैं, उनके लिखे १७५ ग्रं

प्रसिद्ध हैं जिनमें बहुत से संगृहीत और संपादित भी हैं। ये ग्रंथ नाटक, इतिहास, भक्तिरस, चरितावली और काव्यामृत-प्रवाह नाम से ४ भागों में विभक्त हैं। इनके अतिरिक्त कविवचन-सुधा मासिक पत्रिका भी निकाली जो कि संवत् १९२५ से ७½ वर्षों तक भारतेंदु के हाथों में खूब फूली-फली, पर पीछे दूसरों के हाथों में जाकर समाप्त ही हो गई। संवत १९३० में "हरिश्चंद्र मैगजीन" का प्रकाशन आरंभ हुआ और आठ मास के पीछे "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" के नाम से प्रसिद्ध हुई। फिर पीछे संवत् १९३६ में मोहनलाल पंड्या के हाथों में जाकर थोड़े समय पश्चात् समाप्त हो गई। फिर भारतेंदु ने इसे संवत् १९४० में "नवोदिता" के नाम से आरंभ किया, परंतु ३ मास चलकर फिर समाप्त हो गई। संवत् १९३० में गवर्नमेंट की इच्छा से इन्होंने स्त्रियों के लिये "बाला-बोधनी" पत्रिका निकाली, परंतु वह भी चार वर्ष चलकर समाप्त हो गई।

इनके अतिरिक्त काव्य-प्रसार के लिये उन्होंने संवत् १९२७ में कविता-वर्द्धिनी सभा की स्थापना की। संवत् १९३० में तदीय-समाज की स्थापना की। इस समाज द्वारा अहिंसा और स्वदेशी का प्रचार किया गया। इसी समाज द्वारा "भगवद्भक्ति" नाम की एक मासिक पत्रिका भी कुछ दिनों तक निकलती रही। इसी वर्ष इन्होंने "पेनी-रीडिंग-क्लब" की स्थापना की। यह क्लब एक साहित्य-गोष्ठी भी थी और मनबहलाव का एक साधन भी।

संवत् १९३२ में उन्होंने श्री निंबार्क, रामानुज, मध्व और श्री विष्णुस्वामी नामक वैष्णवों के चार संप्रदायों में प्रविष्ठ, प्रवीण और पारंगत नाम की तीन परीक्षायें नियत कीं। इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने वाले परीक्षार्थियों को पारितोषिक भी मिलते थे।

भारतेंदु ने गद्य और पद्य दोनों में सुंदर रचना की है। गद्य-रचना में अधिक सफलता उन्हें नाटक-रचना में मिली है। उसका एक सर्वोपरि कारण उनका रंगमंच संबंधी ज्ञान था और फिर वे स्वयं भी एक मंजे हुए अभिनेता थे। इसी प्रकार उन्हें कविता-क्षेत्र में पूरी सफलता मिली।

भक्ति-क्षेत्र में उन्होंने अपने वैष्णवपन की घोषणा बड़े सुंदर शब्दों में की है—

"हम तो मोल लिये या घर के।
दास-दास श्री वल्लभ कुल के, चाकर राधावर के।"

वल्लभ कुल के पुष्टि मत में भारतेंदु की मोल बिकने की घोषणा में कितनी विनम्रता झलक पड़ी है, यह कहने की बात नहीं। उन्होंने सूर की भांति सखा होने का दावा नहीं किया है, अपितु "चाकर राधावर के" की विनम्र विनीत घोषणा की है।

भारतेंदु की कृष्ण-भक्ति संबंधी रचनाओं में ये ग्रंथ लिये जा सकते हैं:—

भक्तसर्वस्व, प्रेमफुलवारी, प्रेममालिका, प्रेमाश्रु-वर्णन,

प्रेम-प्रलाप, राग-संग्रह, मधुर-मुकुल, विनय-प्रेम-पचासा, प्रेम-तरंग, दानलीला, कृष्ण-चरित्र, संस्कृत-लावनी आदि। इनके अतिरिक्त चंद्रावली नाटक भी कृष्ण-प्रेम की अनूठी रचना है।

भारतेंदु जी भी भक्ति-रचना में प्रायः परंपरा के हामी रहे हैं। उनके यहां वही प्राचीन गीति-पद्धति का रूप मिलेगा जो सूर के समय में मिलता है। भावों की दृष्टि से उनमें कोई नवीनता भी नहीं है, क्योंकि अबतक कृष्णकाव्य के संबंध में जो कुछ कहा जा चुका था, आगे उससे अधिक कहने को कुछ शेष था भी तो नहीं। भारतेंदु के रचे हुए ग्रंथों में कृष्ण-भक्ति संबंधी लगभग डेढ़ हजार पद हैं जिनमें विनय, बाल-लीला और गोपी-क्रीड़ा का वर्णन है। ये पद प्रायः ब्रजभाषा में लिखे गये हैं। कुछ स्थानों में उर्दू का अच्छा रंग जमा है। इसे कवि की मस्ती ही कह सकते हैं। ब्रजभाषा लिखने में भारतेंदु ने पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उनकी अपनी मति थी कि "खड़ी बोली में अभी ब्रजभाषा जैसा माधुर्य-प्रकाशन नहीं आता।" निःसंदेह उनकी ब्रजभाषा में जो रसमयता और उक्ति-मार्मिकता है, वह उनकी खड़ी बोली की कविता में नहीं मिलती। उनके भक्ति-पदों में उनकी सरसता और सरलता प्रतिबिंबित हो उठी है। उन्होंने प्रसिद्ध नवरसों के अतिरिक्त वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनंद नाम से चार अन्य रसों की कल्पना करके सचमुच ही अपने भक्ति-काव्य द्वारा इन रसों को सार्थक कर दिया। अपने एक पद द्वारा उन्होंने अपने स्वरूप का एक चित्र प्रस्तुत किया है

जिससे उनके काव्य को समझने में भारी सहयोग मिल सकेगा।
पद यह है—

"सेवक गुणीजन के, चाकर चतुर के हैं।
कविन के मीत, चितहित गुनी गानी के॥
सीधेन सों सीधे, महा बांके हम बांकेन सों।
हरीचंद, नकद दामाद अभिमानी के॥
चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह, नेही।
नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के॥
सरबस रसिक के, सुदास-दास प्रेमिन के।
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधारानी के॥"

भारतेंदु सरस वाणी के सिद्ध कवि थे। उनके स्वभाव की सरसता और मधुरता उनकी रचना में व्याप्त मिलेगी। इस नये युग में उनके जोड़ का अन्य कोई कवि नहीं दिखाई पड़ता। हां, यह दूसरी बात है कि कविता-क्षेत्र में उनके जोड़ के कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय रहे और नाटक-क्षेत्र में प्रसाद जी, परंतु उनके जैसी सर्वतोमुखी प्रतिभा उनके जन्म से न सैकड़ों वर्ष पूर्व तक दिखाई पड़ती है और न एक शती पीछे तक। और फिर, सबसे भारी मान्यता इस बात की है कि यह सब हुआ उनकी ३५ वर्ष की आयु के बीच-बीच ही।

भारतेंदु को साहित्य के इतिहास में एक संधि-काल का लेखक माना जाता है, परंतु भक्ति-क्षेत्र में भी वे संध्यावस्था.

उत्पन्न करके कोई नवीनता ला सके हों, ऐसी बात नहीं। उनके पदों में भक्ति की वही पुरानी डूबने-उतराने की रटना है; वही गोपी, गाय, ग्वालों की यंत्रणायें हैं। अधिक क्या! वही मधुवन, वही वृंदावन, वही जमुनातट, वही वंशी-स्वर, वही दूध-दही की चोरी और वही लीला-क्रीड़ा तथा कुंज-निकुंज-विहार है। और कहीं-कहीं तो उनकी तड़प का हो-हल्ला तथा नयनों के तीर, नहीं-नहीं बल्कि "नयन की मत मारो तरवरिया" में तरवारों के वार उर्दू-फारसी के ढंग के नेजे-भाले ही हो गये हैं। वस्तुतः बात तो यह है कि उस अंधे साधक ने भौतिक आंखें बंद करके अंतर्दृष्टि के आलोक में रसानुभूति लेकर भक्त-संसार को जो कुछ दिया था, उसके अतिरिक्त शेष रह ही कुछ नहीं गया था। उसके सवा लाख पदों की परिमिति से कृष्ण शेष रह भी कहां गये थे। सूर के पीछे आने वाले सभी कृष्ण-भक्त-कवियों ने सूर की जूठन ही चखनी थी। आखिर सब कुछ कहने से बचा ही नहीं रहा तो उन्होंने चर्व-चर्वण ही तो करना था। अतः यदि भारतेंदु भी उन्हीं भक्तों की वाणी की पुनरावृत्ति करते रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उनका एक पद देखिये और सूर से तोलिये—

"झूठी सब ब्रज की गोरी ये देत उलाहनो ओरी;
मैया मैं नाहीं दधि खायो, मैं नहिं मटुकी फोरी।

हरिचंद मोहि निबल जान ये, नाहक लावत चोरी ॥"

इस प्रकार के पदों में हमें प्राचीन परंपरा की परिपालना-मात्र दिखाई पड़ती है, फिर भी वह परंपरा कुछ मोल रखती है। उस बाल-भक्त-"भारतेंदु" की हृदयानुभूति में कृष्ण किस प्रेममय रूप में रमे यह भी तो महत्व ही की बात है। बाल-भक्त हम उन्हें इसलिये कहते हैं कि उनकी भक्ति संबंधी रचनाएं उनकी प्रायः ३० वर्ष की आयु तक की हैं। फिर गृहस्थ का जंजाल उनके सिर पर रहा—संसार उन्हें घेरे रहा। इस दृष्टि से उनके यहां भक्ति-पथ की कोई नवीनता भले ही न हो—भले ही उनमें परंपरागत रूढ़ियां ही रही हों, परंतु उसमें भक्ति की लय तो है; अपने प्रिय की प्रीत का एक सुर तो है। और फिर, भक्ति कोई फैशन और डिजाइनों की वस्तु तो है नहीं। वह तो किसी भी पंथ का अपना एक पथ है, उसका परिपालन भक्ति का प्रतिरूप है। इस दृष्टि से भारतेंदु, भक्ति की परंपरा में, अपना एक गौरवमय स्थान रखते हैं। इतनी अल्पायु और इतनी संपन्नता में सरस्वती के चरणों पर १७५ ग्रंथों की भेंट उनके गौरव का प्रतीक है।

उन्होंने अपनी कविता में ब्रजभाषा और खड़ी बोली—दोनों का ही प्रयोग किया है, परंतु सबलता उन्हें ब्रजभाषा में ही मिली है। भारतेंदु को संगीत का अच्छा ज्ञान था। इसीलिये उनके पदों में गेयता का माधुर्य सरलता से प्राप्य

है। माधुर्य के साथ-साथ भक्ति-रचना में प्रसादगुण भी व्याप्त रहा है। गीति-रचना के अतिरिक्त उन्होंने दोहा, सोरठा, सवैया और छप्पय का भी अच्छा प्रयोग किया है। उन्होंने जिस मनस्लीनता का आश्रय ग्रहण किया है उसमें भाषा को अलंकृत करने वाले बाहरी उपकरणों की गुंजाइश नहीं थी। इसीलिये उनकी मार्मिकता में बलभरी अपील की झंकृति है। उनकी रचना कृष्णकाव्य की अमूल्य निधि है, जिसका मूल्य स्वयं भारतेंदु ही हो सकते हैं। उनके काव्य की सरस माधुरी का अनुभव लेने के लिये दो पद प्रस्तुत किये जाते हैं—

"सखी री, ठाढ़े नंदकुमार।
सुभग स्याम घन सुख रस बरसत, चितवन माझ अपार॥
नटवर नवल डिपारो सिर पर, लखि छवि लाजत मार।
'हरीचंद' बलि बृंद निवारत, जब बरसत घनधार॥"

तथा

"ऊधो अब वे दिन नहि ऐहैं॥
जिनमैं श्याम संग निसिबासर।
छिन छिन बिलस बितैहैं॥
वह हँसि दान मांगनो उनको।
अब हम लखन न पैहैं॥
जमुना न्हात कदब चढ़ि छिप अब।
हरि नहिं चीर चुरैहैं॥

वह निसि सरद दिवस बरखा के ।
फिर विधि नाहिं फिरैहैं ॥
वह रस-रास हँसन-बोलन-हित ।
हम छिन-छिन तरसैहैं ॥
वह गल बाहीं दै पिय बनियाँ ।
अब नहिं सपन सुनैहैं ॥
हरीचंद तरसत हम मरिहैं ।
तऊ न वे सुध लैहैं ॥"

जगन्नाथदास "रत्नाकर"

रत्नाकर जी संवत् १९२३ में काशीधाम में उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम पुरुषोत्तमदास था। ये जाति से दिल्लीवाल अग्रवाल वैश्य थे। इनके पूर्वज पानीपत जिले में सफीदों स्थान के रहने वाले थे। पीछे पानीपत के दूसरे युद्ध के उपरांत वे मुगलसम्राट् अकबर के दर्बार में चले आये और किसी उच्च पद पर नियुक्त हो गये। पीछे जब मुगल साम्राज्य का सूर्यास्त होने चला तो रत्नाकर जी के परदादा लाला तुलाराम जी जहाँदार शाह के साथ काशी चले गये और वहीं के हो रहे। शाही दर्बार के संपर्क से इस वंश में फारसी का अच्छा अभ्यास चला आया था। रत्नाकर जी के पिता भी फारसी के प्रौढ़ विद्वान् थे। साथ ही मुगल दर्बार से सम्मानित हिंदी-कविता ने भी उनके हृदय पर अच्छी प्रभुता पाई थी। इसलिये रत्नाकर जी ने भी पैतृक

संस्कार के रूप में फारसी का योग्य पांडित्य और भाषा-कविता का महत् अधिकार पाया। लाला पुरुषोत्तमदास का घर भी कवियों की बैठक बना रहता था। भारतेंदु जी तथा अन्य अनेक कवि उनके यहां आते-जाते रहते थे। उस घर पर अनेक कविगोष्ठियां हुआ करती थीं, जिनमें कभी बालक रत्नाकर ने भी भारतेंदु से वरदान पाया था कि यह लड़का कभी अच्छा कवि होगा। इस भविष्यवाणी और उस कविगोष्ठी ने रत्नाकर जी को हिंदी साहित्य का वास्तविक "रत्नाकर" सिद्ध कर दिखाया।

रत्नाकर जी ने फारसी लेकर संवत् १९५८ में बी० ए० पास किया। फिर फारसी में एम० ए० की तैयारी आरंभ की, परंतु घरेलू अव्यवस्थाओं के कारण परीक्षा न दे सके। हां, बी० ए० होने के ९ वर्ष पश्चात् वे अवागढ़ राज्य में राज-सेवा में नियुक्त हो गये। दो वर्ष पश्चात् अव्यवस्था के कारण नौकरी छोड़ काशी चले गये। फिर उन्हें शीघ्र ही अयोध्यानरेश महाराज प्रतापनारायणसिंह ने अपना निजी मन्त्री बना लिया और थोड़े ही दिनों पश्चात् योग्यता देखकर प्रधान-मंत्री का पद दे दिया। चार ही वर्ष पश्चात् महाराजा साहब का देहांत हो गया तो महारानी जगदंबादेवी अवधेश्वरी ने इनकी सज्जनता और कार्य-कुशलता का भरोसा पाकर इन्हें अपना निजी मंत्री बना लिया। रत्नाकर जी ने बड़ी योग्यता से कार्य निबाहा। आगे वे जीवनपर्यंत महारानी की सेवा में रहे।

इनके सरल स्वभाव, योग्यता और कवित्व-शक्ति की महारानी जी सदैव प्रशंसक रहीं। उन्हीं की प्रेरणा से रत्नाकर जी ने गंगावतरण की रचना की थी। इस पर महारानी जी ने १०००) का पारितोषिक भी उन्हें दिया था, जिसे रत्नाकर जी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा को दान कर दिया था। इसी ग्रंथ पर उन्हें ५००) का पारितोषिक हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद ने भी दिया था।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना और सरस्वती पत्रिका के प्रारंभिक प्रकाशन में रत्नाकर जी का पर्याप्त हाथ रहा। वे अखिल भारतीय हिंदी-कवि-सम्मेलन के कानपुर वाले अधिवेशन के सभापति रहे और संवत् १९७९ में हिंदी साहित्य सम्मेलन के कलकत्ते वाले अधिवेशन के भी सभापति रहे। संवत् १९८९ में हृदरोग से पीड़ित होकर वे हरिद्वार चले आये और वहीं अयोध्या हाऊस में विष्णुघाट पर कुछ दिन की अस्वस्थता के पश्चात् परलोक प्रयाण कर गये।

रत्नाकर जी आधुनिक शिक्षा-छाया में पलकर भी प्राचीनता और सादगी के परमोपासक थे। भारतीय संस्कृति में उन्हें अगाध श्रद्धा थी। व्यायामी और संयमी होने के कारण वे अपनी आयु के अंतिम दिनों में भी ४०-४५ वर्ष के जंचा करते थे। स्वभाव से वे बड़े हसमुख और मधुर-भाषी थे। काव्य-रचना के अतिरिक्त वे एक अच्छे वैद्य भी थे, पर इस बात को कम ही लोग जानते होंगे। वे एक सफल भाष्यकार,

भाषा-तत्ववेत्ता और पुरातत्ववेत्ता भी थे। प्राकृत भाषा का उन्हें प्रौढ़ ज्ञान था, इसलिये अनेक शिलालेख बांचने और संशोधन कार्य करने का सौभाग्य भी उन्हें प्राप्त हुआ। साहित्य-सुधा नामक मासिक पत्र भी उनके संपादकत्व में प्रकाशित हुआ था।

रत्नाकर जी अपने समय के एक माने हुए कवि थे। ब्रजभाषा-काव्य-जगत् में उनकी कीर्ति का भव्य भवन एक पृथक् अस्तित्व रखता है। आयु के पिछले खेवे में उन्होंने सूरसागर का संपादन भी आरंभ किया था। इस कार्य में उन्होंने हज़ारों रुपये अपने पास से खर्च डाले, परंतु अभी एक तिहाई भाग का संपादन कर पाये थे कि वे हमसे छिन गये।

रत्नाकर जी की रचना में कृष्णकाव्य

कविवर रत्नाकर-रचित ग्रंथों में से गंगावतरण, हरिश्चंद्र, हिंडोला, समालोचनादर्श, कलकाशी और उद्धवशतक अति प्रसिद्ध हैं। इनमें से अंतिम ग्रंथ ही ऐसा है जिसे कृष्ण-काव्य की परिमिति में लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति से संबंध रखने वाले कुछ फुटकर पद भी हैं। इन सभी ग्रंथों की रचना ब्रजभाषा में हुई है।

रत्नाकर जी ब्रजभाषा के पुजारी ही नहीं, अपितु कट्टर समर्थक भी थे। वे उस दल के प्रथम व्यक्ति कहे जा सकते हैं जिन्हें पूर्ण विश्वास था कि ब्रजभाषा के अतिरिक्त हिंदी की अन्य किसी भी भाषा में सरस कविता हो ही नहीं सकती। वह

एक परिवर्तन का समय था। उनसे एक वर्ष पहले जन्म लेने वाले कवि-सम्राट् हरिऔध और सात वर्ष पहले जन्म लेने वाले नाथूराम शंकर शर्मा जैसे महारथी कवि "सरस्वती" का आह्वान सुनते ही ब्रजभाषा के क्षेत्र को छोड़कर खड़ी बोली की रंग-भूमि में आ डटे थे। उन्हीं की देखा-देखी और भी न जाने कितने कवि उधर से इधर भागे आ रहे थे। यह सब कुछ था, परंतु रत्नाकर वहीं अपनी मर्यादा में स्थिर काव्य-जगत् के ज्वारभाटे देख रहा था। समय की आवश्यकता ने खड़ी बोली को प्रोत्साहन दिया और ब्रजभाषा एक सीमित क्षेत्र की भाषा रह गई, परंतु यह मर्यादामय 'रत्नाकर' जीवन-पर्यंत अचल, अटल और अडिग ही रहा।

रत्नाकर अपने युग के, ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। भाषा के जिस संयमित रूप का प्रयोग उन्होंने किया है, वैसा कम ही कवि कर पाये होंगे। काव्य-सौकर्य के नाम पर उन्होंने काव्य-नियमों का उल्लंघन शायद ही कभी किया हो। वस्तुतः कवि की संपन्नता और सफलता के लिये जिस बहुज्ञता की अपेक्षा है, रत्नाकर जी उससे परिपूर्ण थे। निःसंदेह वे शृंगार के गायक थे, परंतु वह शृंगार जो धुला-धुला और पवित्र था। उसमें उच्छृंखलता नहीं थी, अव्यवस्था नहीं थी और अश्लीलता भी नहीं थी, अपितु उसमें था संयम, उसमें था गौरव और उसमें था नैयायिकों का तर्क—तर्क भी वह जहां वद्धि

जमती है और विलास को आश्रय देने वाली प्रमाद बुद्धि का परिमार्जन होता है।

रत्नाकर जी की अधिक ख्याति तो उनके गंगावतरण नामक प्रबंध-काव्य से है। ब्रजभाषा काव्य में गंगावतरण एक मानी हुई वस्तु है। इस प्रबंध-कल्पना के साथ ही उनकी मुक्तक रचना भी बड़ा मोल रखती है। उनके उद्धव-शतक को प्रबंध और मुक्तक दोनों के बीच की वस्तु मान सकते हैं। उसमें कथा का एक क्रम है, इतनी बात उसे प्रबंध सिद्ध करती है। परंतु जब एक-एक पद अपने आपमें स्वयं पूर्ण प्रतीत होता दिखाई पड़ता है तो उद्धव-शतक मुक्तक काव्य प्रतीत होने लगता है। इस ग्रंथ में ११७ पद हैं। ये पद ही वर्तमान युग के कृष्ण-काव्य की अमूल्य निधि हैं। रत्नाकर जहां युग की ब्रजभाषा के प्रतिनिधि कवि हैं, वहां भक्तों की श्रेणी में भी अग्रगण्य हैं। रत्नाकर को छप्पय और घनाक्षरी में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। प्रस्तुत ग्रंथ में उन्होंने घनाक्षरी का प्रयोग किया है।

उद्धवशतक की रचना का मूलाधार सगुणोपासना और निर्गुण का निरादर रहा है। लगभग सभी कृष्ण-कवियों ने इस सगुणोपासना के प्रतिपादन के लिये अभागे उद्धव को ही अपने उपालंभों का लक्ष्य बनाया है, परंतु सूरदास, नंददास और जगन्नाथदास यह "दास-त्रिमूर्ति" ही उपालंभ-काव्य में अधिक सफल रही है। इनमें से सूर की गोपियां हास्य-ठट्ठे के साथ शृंगार की प्रतिमूर्तियां रही हैं ... की गोपियां जिस चुल

बुलेपन में रंगी हैं वह निराला ही है । उनकी और रत्नाकर की गोपियां दार्शनिकता की प्रतीक रही हैं । रत्नाकर की गोपियां उस युग का भार वहन करती हैं जिसमें सभी कुछ तर्क की कसौटी पर कसकर परखा जाता है । उपालंभ में वे कुछ कम नहीं, परंतु उनका उपालंभ तर्क से खाली कहीं भी नहीं होता । दुर्भाग्य-मारे उद्धव गोपियों से कह बैठे—"निराकार-अलख-अरूप ब्रह्म की उपासना करो ।" बस, फिर क्या था, उन्हें यह अलख-अरूप शब्द मिल गया अपने विपक्षी को उड़ाने के लिये । झट से बोलीं—"इस दूसरे अरूप (अनंग) की बीमारी मत लगाओ । एक अनंग की साधना से ही कुछ कम तो आफत नहीं है । अगर दूसरे की भी उपासना कर बैठीं तब तो न जाने और भी क्या क्या हो जायेगा !"—

"रंग रूप रहित लखात सब ही हैं हमें ।
वैसे एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहा ॥
कहै रत्नाकर जरीं हैं बिरहानल में ।
और अब जोति कौं जगाई जरिहैं कहा ॥
राखौ धरि ऊधौ उतै अलख अरूप ब्रह्म ।
तासौं काज कठिन हमारे सरिहैं कहा ॥
एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब ।
और अंग रहित अराधि करहैं कहा ॥"

उद्धव कहकर पछताये तो होंगे अवश्य ही । तभी तो उन्होंने कहा फिर "जगत् मिथ्या है इसलिये ज्ञान द्वारा

कल्याणप्राप्ति करनी चाहिये।" गोपियों ने पूछा—"भैया, जब जगत् ही मिथ्या है तो फिर कल्याण ही का क्या उपयोग ?" जब आधारभित्ति ही गिर पड़े तो छत का वजूद कहाँ रह जायेगा ?—

'प्रेम नेम छाड़ि ज्ञान-छेम जो बतावत सो
भीति ही नहीं तो कहा छातैं रह जाइगी।"

अपने मिशन के लिये कमर कसकर निकले हुए उद्धव ने गोपियों को यह भी समझाया कि "संसार की स्थिति केवल-मात्र स्वप्न के रूप में है; फिर इतनी क्षणिक वस्तु के लिये इतने लंबे-चौड़े झगड़े बढ़ाने का लाभ ही क्या ! बस छाड़ो संसार की प्रीति और निर्गुण का ध्यान करो।" उद्धव कहने को तो कह गये, परंतु झट ही अपमानभरे शब्दों में उन्हें उत्तर मिला—

"जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हैं।
तातैं तुम ऊधौ हमैं सोवत लखात हौ॥
कहै 'रत्नाकर' सुनै को बात सोवत की।
जोई मुंह आवत सो बिबस बयात हौ॥"

बात बड़े मार्के की रही ; जब संसार को स्वप्न-मात्र मानते हो तो यह स्पष्ट ही है कि तुम स्वयं सो रहे हो और बातें नींद की गललानी में ही कर रहे हो।

कहते हैं, उद्धव फिर भी बाज न आये ' ढीठता के साथ

योग और मुक्ति की बातें करते ही गये, तो गोपियों ने भी अपना अंतिम इरादा प्रकट कर ही दिया—

"जोग रत्नाकर में सांस घूंट बूड़ै कौन।
ऊधौ हम सूधौ यह बानक बिचारि चुकीं॥
मुक्ति-मुकता कौ मोल-माल ही कहा है अब।
मोहनलला पै मन-मानिक ही वारि चुकीं॥"

"उद्धव! तुम्हारा यह योग सिवाय सांस घोंटकर मरने के और कुछ भी नहीं। और रही मुक्तास्वरूपा मुक्ति की बात, सो जब हमने अपने मन-माणिक्य को ही कन्हैया के प्यार पर लुटा दिया तो और दूसरे मोती का क्या करना!"

रत्नाकर के यहां इस नैयायिक बुद्धि में श्लेष का अच्छा उपयोग किया गया है। श्लेष के अतिरिक्त उन्होंने और भी अनेक अलंकारों का अच्छा प्रयोग किया है, परंतु उनमें अस्वाभाविकता दोष कहीं नहीं आ पाया है। उन्होंने लोकोक्ति अलंकार का तो बहुत ही सुंदर प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त उपमा, रूपक और विरोधाभास भी अच्छा आया है। और शब्दालंकारों में तो समझिये सारी ही रचना सानुप्रासिकता-युक्त रही है।

रत्नाकर का सर्वोपरि कौशल वर्ण-मैत्री तथा शब्द-मैत्री है। उनकी शब्दों और वर्णों की योजना इतनी सुंदर और स्वाभाविक-सी बैठती है कि रस तो बरबस ही उमड़ आता है। कवि ने अपनी प्रतिभा-संपन्न कल्पना से जो सजीव चित्र प्रस्तुत

किये हैं उनमें अनुभूति-व्यंजकता है और यही उनकी प्रतिभा की साकारता है। उनकी यह रचना विप्रलंभ शृंगार की अनमोल वस्तु है जिसमें भक्ति, करुणा और प्रेम का सुंदर समन्वय हुआ है।

इस ग्रंथ की भाषा में कविवर रत्नाकर का कवि-व्यक्तित्व चमकता है। उनकी-सी प्रौढ़ ब्रजभाषा आज के युग में कोई ही लिख पाया होगा। ब्रजभाषा के कविता-क्षेत्र में उनका स्थान पद्माकर से कम महत्व का नहीं और रसिकता की दृष्टि से वे घनानंद की कोटि के माने जायेंगे। उनकी अपनी कृतियों में उनका अपना महत्व झलकता है। उनकी कविता में प्रवाह का वह अलौकिक आकर्षण है जिसमें बार-बार डूबकर उतराते और उतरा-उतराकर डूबते ही बनता है। वे ब्रजभाषा-कविता-परंपरा के अंतिम प्रतिनिधि कवि थे। आज उनके रिक्त स्थान की पूर्ति करने वाला अन्य कोई कवि नहीं दिखाई पड़ता। ऐसे महान् कवि ने कृष्ण-काव्य-भांडार में अपनी अमूल्य रचना-निधि देकर हम पर भारी उपकार किया है।

सत्यनारायण "कविरत्न"

कविरत्न पं० सत्यनारायण जी का जन्म संवत् १९४१ में हुआ। इनके पिता अलीगढ़ के रहने वाले थे। ये अभी बच्चे ही थे कि माता-पिता का देहांत हो गया। पालन-पोषण का भार मौसी पर पड़ा, परंतु दुर्भाग्य से उनका भी देहांत

हो गया। अनाथ सत्यनारायण के पालन-पोषण का भार धांधूपुर (आगरा) के ब्रह्मचारी बाबा रघुनाथदास जी ने अपने ऊपर लिया। वे उच्चादर्श के प्राणी थे। उनके आदर्श जीवन का कविरत्न पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा। बाबा जी ने पहले इन्हें हिंदी-मिडिल पास कराया, फिर अंग्रेजी शिक्षा प्रारंभ करा दी। कालेज की शिक्षा सेंट जौंस कालिज आगरा में हुई। ये बी० ए० तक कालिज में पढ़ते रहे, परंतु बी० ए० में उत्तीर्ण न हो सके। कारण, इस समय तक उनकी कवि-सुलभ भावुकता ने विद्यार्थी-जीवन की उद्देश्य-हीन शिक्षा से विरक्त-सा कर दिया था। तभी से वे समाज के जीव बन गये और उनका सभा-समाजों से गहरा संबंध बनने लगा।

कविरत्न के जीवन की आद्योपांत अवस्था दुःखपरिपूर्ण ही रही। उनका बाल्य-काल तो दुःखमय था ही, उनका शेष जीवन भी आंसूभरी आहों में ही कटा और इसका सारा उत्तरदायित्व रहा उनके अनमेल मेल पर—उनकी धर्म-संगिनी पर। वास्तव में बात यह थी कि कविरत्न थे सनातनी और उनकी पत्नी थीं कट्टर आर्य-सामाजिक विचारों वाली। फिर उनकी सहनशीलता और सादगी भी उस ठिकाने की थी कि देवी जी को कटाक्ष-पूर्ण ठट्ठों का अवसर मिलता था और इन्हें उन ठट्ठों के कारण घड़ी-घड़ी कुढ़ना रहता था। कहते हैं कि देवी जी कविरत्न को पूजा-सामग्री और मूर्तियों को इधर-उधर उठाकर फेंक दिया करती थीं। धर्मपत्नी वास्तव में पत्नी ही

ऐसे वातावरण में थीं; उनके पिता आर्य-सिद्धांतों के कट्टर पक्षपाती थे। बस, प्रायः मूर्ति-पूजा के विषय पर कोई न कोई छेड़-छाड़ बनी ही रहती थी। संभवतया यह स्थिति सुधर भी सकती, परंतु वे सादे और भोले भी इतने थे कि देवी जी का उनके प्रभाव में आना असंभव था। वे बी० ए० तक पढ़े थे; अंग्रेजी की उच्च शिक्षा पाकर भी सादगी उनमें इतनी भयंकर थी कि आधुनिक ढंग के सभ्यों के मध्य में तो वे सर्वथा गवार जंचते थे। कहते हैं, हिंदी साहित्य सम्मेलन के इंदौर वाले अधिवेशन पर तो स्वयंसेवकों ने इन्हें गंवार समझकर सभा-मंडप में घुसने से भी रोक दिया था। इसी सादगी का अंतिम फल समझिये कि उनकी सरलता की उस सीमा और देवी जी की आधुनिक परिधि-रेखा का मेल हो ही नहीं सका। उनका सारा जीवन, जिसमें कृष्ण-प्रेम की सरसता भी थी, इस विरसता को पाकर करुण-संगीत बन गया। इस अवस्था ने उन्हें मर्माहत कर डाला था। वे कभी-कभी तो कहा करते थे--"भयौ यह अनचाहत कौ संग।" और जब धीरज का बांध बिल्कुल ही टूट जाता तो सहसा यही कहते—"बस, अब नहीं जात सही।" अंत को यही संताप संवत् १९७५ में उनके प्राण ले बैठा। इस समय उनकी अवस्था केवल ३४ वर्ष की थी। कविरत्न का शांत स्वभाव, चरित्र की सादगी, भक्तिमय जीवन और जीवन की करुणा उनकी रचना में रम गये हैं।

वे हिंदी, हिंदू और हिंद के अपने कवि थे। महात्मा गांधी के स्तवन में लिखे गये छप्पय के अंतिम दो चरणों में यह उक्ति स्पष्ट चरितार्थ हो जाती है—

"मोहन प्यारे, तुम को निसदिन, विनय विनीत हमारी।
हिंदू, हिंदी, हिंद देश के, बनहु सत्य हितकारी॥"

उनकी प्रसिद्धि का मूल रहस्य तो उनके भवभूति-रचित उत्तर-राम-चरित और मालती-माधव नाटकों के अनुवाद हैं। साथ ही उनकी कृष्ण-प्रेमरस-सिक्त कविता का भी अपना एक मोल है। अपने कृष्ण के सामने ये किस भोलेपन से आये, उसका आभास इंदौर साहित्य सम्मेलन के अवसर पर मिला। इंदौर की काली मिट्टी को देखकर अपने साथियों से बोले— "या माटी को तो हमारे कन्हैया न खाते।" नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने मैकाले के होरेशस नाम के अंग्रेजी खंडकाव्य का भी पद्यानुवाद किया। उनकी मौलिक रचनाओं में "प्रेमकली" और "भ्रमरदूत" का नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'भ्रमरदूत' की कविता-रचना नंददास के 'भ्रमरगीत' के ढंग पर हुई है। भ्रमरदूत में यशोदा ने भ्रमर द्वारा, द्वारिका में कृष्ण के पास संदेशा भेजा है। भ्रमर को आधार बनाकर कृष्ण संबंधी जितनी भी रचनाएं प्रस्तुत हुई हैं, उनमें भ्रमरदूत की अपनी अलग विशेषता है। इसमें कवि ने अपने समय की देश-दशा और अपनी देश-भक्ति का भी अच्छा पुट दिया है। यदि

हम यह कहें कि कवि ने यशोदा के बहाने भारतमाता का संदेश गीता के उन कृष्ण के पास भेजा है जो महाभारत की रंगभूमि में अर्जुन से यह प्रतिज्ञा कर गये थे—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य संभवामि युगे-युगे ॥"

तो तनिक भी अत्युक्ति न होगी।

कवि ने दूत के स्वर में अपने हृदय का करुण स्वर गुंजाकर हमारे कृष्णकाव्य में एक नई झंकार उठाई है। देश की परतंत्रता की पीड़ा उन्हें कितना सालती रही होगी यह तो उन्हीं की आत्मध्वनि से अनुभव हो सकता है—

"सात समुन्दर पै भयो दूर द्वारकानाथ—
जाइगो को उहा ॥"

इस पद में विदेशी की परोक्ष शासन-पद्धति में न्याय संबंधी दुराशा-मात्र की अभिव्यंजना नहीं तो और क्या है!

उनके अपने हृदय का दर्द, देश की दुरवस्था, समय की स्थिति और पराधीनता की पीड़ा, सभी कुछ इन पदों में देखिये—

"नित नव परत अकाल, काल कौ चलत चक्र चहुँ।
जीवन कौ आनंद न देख्यौ जात यहाँ कहुँ ॥

चढ़्यो यथेच्छाचार-कृत, जहं देखौ तहं राज।
होत जात दुर्बल विकृत, दिन-दिन आर्यसमाज ॥
दिनन के फेर सों ॥"

तथा

"जे तज मातृभूमि सों ममता होत प्रवासी।
तिन्हें विदेशी तंग करत दै विपदा खासी ॥
नहिं आये निरदय दई, आये गौरव जाय।
साप छछूंदर मति भई, मन ही मन अकुलाय ॥
रहे सबके-सबै ॥"

भ्रमरदूत में उनका सरल और कृष्ण-भक्त हृदय रमा दिखाई पड़ता है; साथ ही जिस देश-भक्ति का पुट उसमें आया है वह भी उनकी अपनी विशेषता है।

भ्रमरदूत के अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति संबंधी जो फुटकर पद हैं उनमें कवि के भक्त-हृदय की दैन्य भावना और याचना की विनम्रता का स्वरूप झांकता दिखाई देता है।

कविरत्न की याचना में माधुर्य और कोमलता का सुंदर सामंजस्य हुआ है। उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह ब्रज की जीती-जागती भाषा है। उसमें काव्य-परंपरा का बंधा हुआ रूप नहीं, अपितु उसमें है बोलचाल का स्वरूप। यही कारण है कि उनकी रचना में कुछ शब्द ऐसे भी आ गये हैं जिनमें प्रांतीयता का आभास मिलता है। उन्होंने जिस मौजी

स्वभाव में रचना की है, उसमें उनकी स्वाभाविकता स्पष्ट रूप से झलकती है। निःसंदेह वे ब्रजभाषा के एक महाकवि थे, जिनकी आंखों में कृष्ण रमे थे और हृदय में हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान। यदि उन्हें जीवन के कुछ दिन और मिल गये होते तो इसमें कुछ सदेह नहीं कि वे कृष्ण-भक्ति साहित्य में एक नई क्रांति का संचार करके दिखा देते। उनके हृदय में कृष्ण-प्रेम की जो अनुभूति थी उसके संबंध में उन लोगों से पूछना चाहिये जिन्होंने उनकी अमृतवाणी का आस्वादन स्वयं अपने कानों प्राप्त किया था। सचमुच, कविवर 'कविरत्न' ब्रजभाषोप-वन के मधुर बसंत के सरस-कूजन-कर्ता कोकिल थे जिन्होंने एक बार अपनी वचन-माधुरी से कृष्ण-भक्तों का हृदय आप्लावित किया था।

श्री वियोगीहरि

वियोगीहरि जी का वास्तविक नाम हरिप्रसाद "द्विवेदी" है। इनका जन्म छत्रपुर रियासत, बुंदेलखंड में संवत् १९५३ में हुआ और जन्म के छः मास पश्चात् ही पिता की छाया उनके सिर से उठ गई। इसलिये बालपन ननिहाल में कटा। प्रतिभा पर रीझकर कविता उनकी बाल-संगिनी बन गई। आयु के प्रारंभिक १८ वर्षों में उन्होंने कई रचनाएं प्रस्तुत कर दी थीं। बचपन से उनकी प्रवृत्ति का झुकाव धार्मिकता की ओर था। संवत् १९७८ में अपनी धर्ममाता (छतरपुरनरेशाधिपति श्री

विश्वनाथसिंह जी की धर्मपत्नी श्रीमती कमलकुमारी, जिन्होंने जुगलप्रिया नाम से कृष्ण-भक्ति पर अच्छी पद-रचना की है) के देहांत हो जाने पर इनकी जन्मजात धर्मपरायणता ने इन्हें सांसारिकता से एकदम अलग-सा कर दिया। इसी समय इन्होंने सन्यास लेकर हरितीर्थ नाम धारण किया, परंतु साहित्य में वे प्रायः वियोगीहरि नाम से ही विख्यात रहे।

वियोगीहरि जी का सन्यास देश, जाति तथा भाषा-साहित्य के लिये बड़ा शुभ फल-प्रद रहा। सन्यास लेकर वे राजनैतिक क्षेत्र में उतरे और महात्मा गांधी जी के संपर्क में आये—वर्षों तक उनके 'हरिजन-सेवक' साप्ताहिक पत्र का संपादन करते रहे। वे हरिजन उद्योगशाला, देहली के अधिष्ठाता भी रहते आ रहे हैं। उनके हृदय में कृष्ण-भक्ति का वही स्रोत प्रवाहित है जो जाति-पांति की अवहेलना करके प्रभु के सत्य-संधान में सबका समान अधिकार स्वीकार करने वाले वल्लभ और विट्ठल में था। देशभक्ति की संलग्नता उन्हें कृष्ण-मंदिर में भी ले गई, पर कौन कह सकता है कि इस मंदिर की यात्रा में राष्ट्रीयता के साथ-साथ उनका कृष्ण-प्रेम कुछ कम था।

वियोगीहरि जी आज के जीवित कृष्ण-काव्य-कारों में सर्वोच्च और सर्वोत्तम कवि हैं। काव्य क्षेत्र में उन्होंने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। गद्य और पद्य, दोनों ही उनकी लेखनी से संपुष्ट हुए हैं। हां, वैसे उनका गद्य भी होता गद्यगीत ही है,

जिसमें उनकी कवि-आत्मा रमी-सी दीख पड़ती है। वियोगीहरि जी ने गद्य और पद्य दोनों ही से हिंदी का भांडार भरा है। उनके रचे ग्रंथों में गद्य में प्रेमयोग, अंतर्नाद, प्रेम के छींटे, भावना और पगली आदि का अच्छा नाम है। कविता-क्षेत्र में उनकी वीरसतसई अच्छा नाम प्राप्त कर चुकी है। इस ग्रंथ पर हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा इन्हें १२००) का पुरस्कार भी मिल चुका है। इनके अतिरिक्त प्रेमशतक, प्रेमपथिक, प्रेमांजलि आदि में इनकी भक्ति-रचनाएं संगृहीत हैं। चरखास्तोत्र, असहयोग वीणा और चरखे की गूंज में इनके राष्ट्रप्रेम की झलक है। इन सबके अतिरिक्त इनके कृष्ण-प्रेम की परिचायक है उनका "ब्रजमाधुरीसार' नामक ग्रंथ। इस ग्रंथ में ब्रजभाषा के २८ प्रसिद्ध कवियों के परिचय और उनकी रचनाओं के उद्धरण संगृहीत हैं। इन कृष्ण-भक्त कवियों की भाव-मग्नता और कविता-माधुरी का जितना सुंदर और सरल विवेचन इन्होंने किया, उतना हमारे यहां अभी तक तो अन्यत्र देखने में आया नहीं। 'ब्रजमाधुरीसार' के ब्रजबिहारी-भक्त का जो मनोरम वर्णन इनके द्वारा हुआ है वह हमारे कवि के भक्त-हृदय का सूचक ही कहा जा सकता है।

वियोगीहरि जी की कृष्ण-भक्ति-कविता फुटकर पदों में हुई है। उनकी रचना में भक्ति का वही उद्रेक मिलता है जो भक्ति-काल के कवियों में रहा है, परंतु उनमें कट्टर वैष्णवों का संकुचित हृदय नहीं रहा है। उनके मंदिर में भक्ति-पथ के मुक्त द्वारों से कोई

भी प्रवेश कर सकता है। हां, हृदय की पवित्रता चाहिये। भक्ति-क्षेत्र में छुआ-छात उन्हें अप्रिय ही लगी है। क्या वाणी, क्या कर्म—सभी से वे अछूतोद्धार के समर्थक रहे हैं। पर-प्रशंसा और निज-गोपन उनका अपना एक महान् गुण है।

अपनी कविताओं में वे कविता की ब्रजभाषा के रूढ़िगत व्यर्थ नियमों का मनचाहा उल्लंघन कर गये हैं, जिस पर उन्हें आलोचकों की तीव्र दृष्टि में अपराधी बनना पड़ा है। परंतु यहां शायद वे यह सर्वथा भूल ही जाते हैं कि कवि अपनी सृष्टि के नियम स्वयं ही निर्माण करता है—उसे नियमों की व्यर्थता में बांधकर उसकी प्रतिमा पर चोट नहीं की जा सकती। और फिर, भक्तों की वाणी में तो दुनियाभर का अटपटापन सदा से सहस्थ होता रहा है और उसी अटपटेपन में तल्लीनता, भक्ति की खुमारी, आध्यात्मिकता, रहस्य-प्रतीति और न जाने और क्या-क्या स्वीकार किया जाता रहा है। अस्तु। ये बातें उनके दोहों में बताई जाती रही हैं, लेकिन उनके पदों की भाषा में वही प्राचीन वैष्णव भक्तों की भाषा का माधुर्य और चलतापन रहा है। भाषा को चटक-मटक देने की उनमें आदत ही नहीं, इसीलिये उनके पदों में भी उनके भक्तिपूर्ण सरल हृदय का सीधा-सादापन ही व्याप्त रहा है।

किसी-किसी का कहना है कि उनकी ब्रजभाषा में एक रूपता का अभाव है, परंतु ऐसा होना विषय-भेद पर आधारित

है। एक ओर उनका भक्ति-समन्वित नम्र-निवेदन है तो दूसरी ओर प्रचंड पराक्रममय हुंकार-गर्जन। इस रूप में भाषा की एकरूपता का अभाव स्वयं ही प्रस्तुत होना हुआ। और इसे तो अवगुण न कहकर उल्टे गुण ही मानना चाहिये; क्योंकि भावानुरूपिणी भाषा का ही तो एक मोल है। खैर, कुछ भी सही, परंतु इतना तो उनके विवेचक भी स्वीकार करते हैं कि श्री वियोगीहरि व्रजभूमि, व्रजभाषा और व्रजपति के अनन्य उपासक हैं. और ऐसे प्रेमी रसिक जीव इस रूखे जमाने में कम ही दिखाई पड़ते हैं।

वियोगीहरि जी की साहित्य-साधना के पुरस्कार-स्वरूप अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन ने उन्हें इस वर्ष प्रधानपद प्रदान करके सम्मानित किया है। यह उनके भौतिक स्वरूप का सम्मान नहीं अपितु उनकी साहित्य-साधना—उनकी सरल प्रेममयी भक्ति का पूजन है।

उनकी कविता-माधुरी का आस्वादन प्राप्त करने के लिये उनका एक पद प्रस्तुत करते हैं—

"माधव आज कहौ किन सांची।
क्यों हम नीचन तैं हरि रूठे ऊचन में मति रांची॥
शंकित भय कपाटिनी वाड़ए दृढ़ मंदिर तुम पाये।
बलिहारिस छोक नाथ जू! भलो भाजि इत आये॥

हम सबके अघ देखि दुरे हौ किधौं मंदिरन माहीं।
कै कछु डरत उच्च बंसन को, छुअत न हमरी छाहीं।
पै इतहूं नहिं कुसल तुम्हारी कल न लेन हम देहैं।
जो पै प्रेम हियें कछु ह्वै है, तुम्हें खैंचि प्रभु लैहैं॥"

☆

द्वितीय अध्याय

नवीन चेतना के कृष्ण-कवि

नवीन चेतना के कवियों ने कृष्ण-साहित्य में एक नवीनता का उद्‌घाटन किया। इनमें चाहे तो भक्ति-पद्धति की नवीन उद्भावना थी, चाहे विचार-परंपरा के साथ विद्रोह। नयापन चाहे भाव संबंधी लाया गया था, चाहे भाषा संबंधी, परंतु इतना स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि इनमें कुछ नयापन था अवश्य। आगे हम इसी प्रकार के आधुनिक दो महान् कृष्ण-कवियों का उल्लेख करेंगे। इनमें एक तो हैं स्वर्गीय कविसम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय और दूसरे हैं युग-भावना के प्रतीक कविवर मैथिलीशरण गुप्त।

कविसम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

(परिचय)

उपाध्याय जी का जन्म निजामाबाद में संवत् १९२२ में हुआ था। पं० भोलासिंह उपाध्याय इनके पिता थे और पं० ब्रह्मसिंह उपाध्याय चाचा। चाचा निःसंतान थे, इसलिये इनका

पितृसुलभ वत्सलानुराग अयोध्यासिंह जी को ही प्राप्त हुआ। वे शास्त्र-मर्यादापालक पुराने ढंग के संस्कृत के योग्य पंडित थे। अनेक शास्त्रों में उनकी अच्छी गति थी। ज्योतिष उनका प्रिय विषय था। जैसे वे पंडित थे वैसे ही धर्मनिष्ठ भी। उनके इन गुणों का हमारे उपाध्याय जी पर पूरा प्रभाव पड़ा। पांडित्य इनकी परंपरासिद्ध वस्तु थी। वस्तुतः यह वंश कभी दिल्ली में निवास करता था। अयोध्यासिंह से ६ पीढ़ी पूर्व इस वंश में पं० काशीनाथ जी हुए। वे जिस समय दिल्ली में रहते थे उस समय सम्राट् जहांगीर का शासन तप रहा था। किसी कारण काशीनाथ जी के एक पड़ौसी कायस्थ परिवार पर सम्राट् की कोप-दृष्टि हो गई और उसी के फलस्वरूप लगभग सारा परिवार तलवार के घाट उतार दिया गया। राजकर्मचारियों की दृष्टि से बचाकर पंडित जी ने उस कुल की दो स्त्रियां और उनके बच्चों को अपने घर में छिपा लिया। दर्बार में इस बात की शिकायत हो गई। इनकी पूछ-गिछ की गई तो इन्होंने उत्तर में कह दिया कि वे सब अपने ही वंश से संबधित हैं। अंत में सम्राट् की ओर से आज्ञा हुई कि यदि पंडित जी इन स्त्रियों के हाथ का बना हुआ भोजन इन बच्चों के साथ ग्रहण कर लें तो शंकानिवारण हो जायेगी और इन स्त्रियों तथा बच्चों को छोड़ दिया जायेगा। अंत में कुछ इसी प्रकार का प्रबंध किया गया। उन स्त्रियों द्वारा रसोई तैयार हुई और पंडित काशीनाथ जी ने उन बच्चों के साथ भोजन ग्रहण कर लिया। राजकर्मचारियों का संदेह दूर हो

गया और उन अबलाओं तथा बच्चों के प्राण बच गये। इस समय समय तो बचाव हो गया, परंतु उन्हें भय हो गया; क्योंकि वातावरण अधिक देर शांत रहने की कम ही आशा थी। इसीलिये उन्होंने दिल्ली छोड़ दी और पहले तो वे युक्तप्रांत के बदायूं जिले में आकर बसे, फिर जल्दी ही आजमगढ़ से आठ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर तमसा-तट पर स्थित निजामाबाद नामक बस्ती में आकर बस गये। पं० काशीनाथ द्वारा बचाई गई उन स्त्रियों के वंशज भी आज वहां ही इधर-उधर अनेक परिवारों में बसे हैं। इन परिवारों में उपाध्याय कुल की महान् आस्था और मानता है। इस परिचय का अभिप्राय केवल इतना समझना चाहिये कि इस कुल का पुराना संबंध मुगल-कालीन दिल्ली से रहा, जहां से विदा होते समय जहांगीर के समय की शाही ठनक और सौंदर्य-प्रियता अपने साथ अवश्य लेता गया होगा और उनके संस्कृत-ज्ञान के साथ फारसी का प्रभाव भी साथ ही चला गया होगा। इसी सौंदर्य-प्रियता और फारसी-योग्यता का प्रभाव हमें आज भी उस कुल के परमभूषण कवि-सम्राट् में मिलता है। अस्तु।

पं० ब्रह्मासिंह बड़े उच्च चरित्र वाले भागवत-भक्त थे। वे प्रेम-विह्वल होकर गद्गद् वाणी से हमारे चरित्रनायक को श्रीमद्भागवत के श्लोक सुनाया करते थे। हरिऔध जी की माता रुक्मिणीदेवी भी पढ़ी-लिखी तथा परमभागवत थीं। उन्होंने पुत्र के बचपन में ही उस पर सुखसागर के द्वारा

धार्मिक प्रभाव डाला था। वे पुत्र से सुखसागर पढ़वाकर सुना करती थीं। श्रीकृष्ण का मथुरा-गमन-प्रसंग उन्हें बहुत प्रिय था। चाचा तथा माता के भक्तिमय हृदयों का हरिऔध पर पूरा प्रभाव पड़ा। निःसंदेह, प्रियप्रवास में तो उन्हें मातृ-संस्कारों का प्रभाव ही प्रेरणास्वरूप रहा है।

उपाध्याय जी ने निजामाबाद तहसीली स्कूल से मिडिल पास किया। इसी समय निजामाबाद के प्रसिद्ध कवि तथा सिख संप्रदाय के महंत स्वर्गीय बाबा सुमेरसिंह से परिचय हुआ, जिनके पुण्य आशीर्वाद ने उनकी गति कविता की ओर मोड़ दी। यहीं से उनके कविजीवन का आरंभ समझना चाहिये। उनका हरिऔध नाम भी उन्हीं दिनों का है। स्कूल में पढ़ते-पढ़ते ही उन्होंने मौलवी इमाम अली से फारसी का अच्छा अभ्यास कर लिया था। संस्कृत तो घर पर चाचा से पढ़ते ही थे। मिडिल पास करके अंग्रेजी पढ़ने के लिये क्वींस कालेज, बनारस में भरती हुए, परंतु अस्वस्थता के कारण बीच में ही कालेज छोड़ देना पड़ा। वहां से लौटने पर उनका विवाह हो गया। अब आयु १७ वर्ष की हो चुकी थी। जीविकोपार्जन के लिये निजामाबाद के तहसीली स्कूल में अध्यापकी आरंभ कर दी। काम करते-करते संवत् १९४४ में नार्मल परीक्षा पास कर ली। २ वर्ष पश्चात् कानूनगोई पास करके कानूनगो बन गये और अपनी योग्यता से बढ़ते हुए सदर कानूनगो के पद तक जा पहुँचे। नौकरी से पेंशन लेकर बनारस हिंदू विश्वविद्यालय

में हिंदी-अध्यापक-पद पर आ डटे और आजीवन वहीं पर कार्य करते रहे। खेद है कि जिनकी प्रेरणा से लेखक प्रस्तुत निबंध लिखने बैठा था वे हरिऔध उपाध्याय संवत् २००३ की बिदाई के साथ-साथ बिदा ही हो गये। उन्होंने आयुभर हिंदी-सेवा की। उनके साहित्यिक महत्व को जानकर साहित्य सम्मेलन ने उन्हें दो बार सभापति पद से अलंकृत किया।

हरिऔध जी स्वभाव से मिलनसार और उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। उनके स्वभाव में रंगीनी थी। वही रंगीनी उनके काव्य में भी व्यापक दीख पड़ेगी। कुछ न कुछ करते रहने का उनका स्वभाव था। योग्यता में वे ठोस थे, प्रतिभा में परिपूर्ण। लगभग ४० वर्ष की आयु में उन्हें धर्मसंगिनी का वियोग सहना पड़ा; तभी से उनके जीवन में कुछ करुणा का उद्रेक हुआ। बचपन में मां को सुखसागर पढ़कर सुनाया करते थे। जब वे कृष्ण का मथुरागमन पढ़ते थे तो माता जी भी आंसुओं की लड़ी लगा देती थीं। कुछ वे आंसू थे और कुछ आंसू दे गई थीं जीवन-संगिनी। इन्हीं आंसुओं का समन्वय करके तो पत्नी-विदाई के ५ वर्ष पश्चात् करुणा-परिपूरित 'प्रियप्रवास' प्रबन्ध-काव्य लिखा गया।

उपाध्याय जी को हिंदी-संस्कृत और अंग्रेजी-फारसी के अतिरिक्त पंजाबी और बंगला का भी अच्छा ज्ञान था। हिंदी-गद्य और पद्य दोनों के ही वे समर्थ लेखक थे। उनकी एक

विशेषता तो सर्व-विख्यात है—वे लिखने में सरल से सरल और कठिन से कठिन थे। भले ही इससे वे अपनी कोई स्थिर शैली नहीं बना पाये, परंतु अपनी प्रतिभा का चमत्कार अवश्य प्रस्तुत कर गये। गद्य में वे उपन्यासकार, नाटककार, निबंधकार तथा समीक्षाकार के रूप में आये; और पद्य में आये भक्ति-काव्य-निर्माता तथा रीतिकाल के विवेचक बनकर। भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों ही की रचना में समान समर्थता रखते थे। और यह तो स्पष्ट ही है कि उन्होंने प्रबन्ध-रचना भी की है तथा मुक्तक भी। भक्ति के क्षेत्र में वे सगुणता और निर्गुणता दोनों के ही हामी रहे हैं। उन्हें राम-काव्य-निर्माता भी कह सकते हैं और कृष्ण-काव्य-प्रणेता भी। बोलचाल, चुभते चौपदे और चोखे चौपदे नामक ग्रंथ में तो वे नीतिकार के रूप में भी प्रस्तुत हो गये हैं। बोल-चाल में मुहाविरों द्वारा जीवन-नीति की व्याख्या उनका सफल प्रयत्न कहा जा सकता है। इनके रचे कविता-ग्रंथों में प्रियप्रवास, बोलचाल, चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, रसकलश, वैदेही-बनवास प्रसिद्ध हैं। गद्यग्रंथों में ठेठ हिंदी का ठाठ, वेनिस का बांका और अधखिला फूल प्रसिद्ध हैं। यहां हमारा उद्देश्य केवल कृष्णकाव्य संबंधी रचनाओं का उल्लेख है, इसलिये अधिक न कहकर आगे उनकी केवल कृष्णकाव्य संबंधी रचनाओं के विषय में ही कुछ विचार करेंगे।

उपाध्याय जी का कृष्णकाव्य

हम पहले बता आये हैं कि उपाध्याय जी कृष्ण-काव्य-कारों में नवीन चेतना के प्रमुख स्तंभ थे और उस नवीनता के विषय में हम यह भी बता चुके हैं कि वह उस चित्रण पर निर्भर थी जिसमें कृष्ण अवतार के रूप में प्रस्तुत न होकर केवल महान् पुरुष के रूप में—मानव के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। ऐसा कथन उनके कृष्णकाव्य संबंधी प्रमुख प्रबंध-काव्य प्रिय-प्रवास को दृष्टि में रखकर किया गया था। इस ग्रंथ का प्रणयन उन्होंने अपनी ४५ वर्ष की आयु में किया। इसी रचना से उनकी 'कविसम्राट्' की उपाधि सार्थक सिद्ध हो गई। परंतु ध्यान देने की बात है कि वे अपनी आयु के १७वें वर्ष में अपनी सर्वप्रथम रचना 'श्रीकृष्ण-शतक' लेकर काव्यक्षेत्र में उतरे थे। श्रीकृष्ण-शतक में १०० दोहे हैं। इसमें परंपरा के अनुसार कृष्ण को परब्रह्म मानकर यशगायन हुआ है। इसमें उनके कृष्ण परम-शक्ति के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। उनके एक दोहे से यह स्पष्ट हो जायेगा—

"सिव चतुरानन हू सकल, जाको चाहि न चूमि।
वा पावन पदरज भई, रंजित ब्रज की भूमि॥"

उनकी इस समय की रचना में न प्रतिभा का विकास है, न कोई मौलिकता ही। परंतु हां, कृष्ण के प्रति उनके हृदय में किन भावों का उदय हो रहा था यह स्पष्ट हो जाता है। इसके

कुछ दिन पश्चात् उनके दो रूपक आये—रुक्मिणी-परिचय और प्रद्युम्न-विजय। दोनों ग्रंथों की रचना में उनका उद्देश्य केवल कृष्णचर्चा ही जान पड़ता है। इस दृष्टि से उनमें सरसता, मधुरता, ओज और भावुकता को समझने में अच्छा योग मिलेगा। प्रतापनारायण मिश्र ने प्रद्युम्न-विजय की अच्छी प्रशंसा की थी। रुक्मिणि-परिचय में रुक्मिणी और कृष्ण के परिचय की प्रसिद्ध कहानी है। इसमें जानने योग्य बात यह है कि वे कृष्ण को भगवान् के रूप में तो लाये ही, साथ ही मानव-रूप में भी उनका चित्रण हुआ।

कुछ समय के उपरांत उनके रचे प्रेमांबु-वारिधि, प्रेमांबु-प्रस्रवण और प्रेमांबु-प्रवाह प्रकाशित हुए। इनमें जानने योग्य यही एक बात थी कि इस समय वे कृष्ण को अवतारी शक्ति के रूप के साथ-साथ मानवाकृति भी दे रहे थे। वैसे हमारे साहित्य के लिये यह कोई नई वस्तु नहीं थी। सगुणोपासक सूर ने भी कहीं-कहीं निर्गुण-भावना को सम्मान दिया ही है, परंतु उनके संबंध में इसे नयापन ही कहना चाहिये क्योंकि धीरे-धीरे इसी प्रकार तो वे अवतारी कृष्ण को केवल एकसत्ता-धारी पुरुष की कोटि में ले आ रहे थे। कृष्ण का यह व्यक्ति-स्वरूप उनके प्रियप्रवास में स्पष्ट ही हो गया। यहां कृष्ण पृथक् हो गये और ब्रह्म की सत्ता में व्यापकत्व की विशेषता स्वीकार कर ली गई। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सगुणता से उनका विश्वास उठता जा रहा था

और निर्गुण आत्मा विकास को प्राप्त हो रही थी। कृष्ण की सत्ता और शक्ति पर उन्हें कोई संदेह नहीं था। उनके अलौकिक कृत्य उनके लिये पूर्ववत् सम्मानयोग्य थे, परंतु उनके ये साहस-पूर्ण कृत्य भगवान् के कृत्य नहीं बल्कि वे एक अलौकिक वीर के कृत्य थे—वीर भी वह जो मानवीय-सत्ता-संभूत है। संक्षेप में कहिये, उनके कृष्ण पापी कंस के अन्याय और असत्य के सामने न्यायसत्ता की स्थापना करने के लिये क्रांति-दूत की मूर्ति में प्रस्तुत हुए। कृष्ण-साहित्य में चला आता हुआ ७०० वर्षों का पक्का और पुराना कृष्ण का ईश्वरत्व प्रियप्रवास में आकर हिल गया। इस रूप में प्रियप्रवास को कृष्णकाव्य की अखंड सगुणता में "निर्गुण क्रांति" का प्रतीक कहना चाहिये। यदि इस प्रकाशन पर इसके प्रणेता को कटाक्ष-वाण सहने पड़े हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। रूढ़िवादियों को उनके विरोध में जब और कोई युक्ति सूझी ही नहीं तो उन्होंने प्रियप्रवास में वर्णित राधा की सौंदर्य-वर्णना को लेकर रचयिता पर कीचड़ उछालनी आरंभ की, परंतु भगवान् को गोपियों के साथ सानने वाले सगुणों की उद्दंडता पर उन्होंने कभी ध्यान भी नहीं दिया। कुछ भी सही, उपाध्याय जी की रूढ़ि के गढ़ पर की गई चोट पूरी शक्ति के साथ बैठी और साहित्य में क्रांति का पक्ष लेने वालों ने उसे मुक्तकंठ से सराहा।

प्रियप्रवास को लोकप्रिय बनाने के लिए उसमें प्रयुक्त खड़ी बोली ने भी बड़ा सहयोग पहुंचाया। कविता में खड़ी बोली

के प्रयोग के संबंध में इस समय बड़ा भारी आंदोलन चल रहा था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इस आंदोलन के अग्रगण्य नेता थे। इस साहित्यिक महावीर की एक हुंकार पर साहित्य में भारी उथल-पुथल पड़ी हुई थी। इसी उथल-पुथल के युग में उपाध्याय जी भी ब्रजभाषा के क्षेत्र को छोड़कर इस ओर आ गये थे। ब्रजभाषा के पक्षपातियों का दावा था कि खड़ी बोली में वह सामर्थ्य नहीं है कि उसमें सरसता और सफलता के साथ बड़े-बड़े ग्रंथ प्रस्तुत किये जा सकें। कविसम्राट् ने प्रियप्रवास के रूप में खड़ी बोली का सरस और सफल प्रबंध-ग्रंथ प्रस्तुत करके इस दावे को फेल कर दिया। "वह एक महाकाव्य है या नहीं ?" इसके लिये जहां पुराने लक्षणों की दृष्टि से देखा जाता है वहां नये दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। परंतु इससे हमें कोई बहस नहीं। हम तो उसे सफल प्रबंध-रचना मानते हैं। प्रस्तार-विस्तार और भार-आकार की दृष्टि से वह महाकाव्य भी है ही। इस युग में प्रियप्रवास का एक महत्वपूर्ण स्थान है, इसलिए इस ग्रंथ के संबंध में विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक है।

प्रियप्रवास

प्रियप्रवास की रचना संवत् १९६६ में आरंभ हुई, जब कि इन्हें पत्नी-वियोग की प्राप्ति निकट भूत में ही हुई थी। जीवन-संगिनी के प्रवास की पीड़ा का व्यक्तिकरण प्रस्तुत

करने लिए ही प्रियप्रवास उनके उच्छ्वासों से निसृत हुआ हो तो इसमें कोई संदेह नहीं। प्रियप्रवास की करुणा उनकी अपनी करुणा से जनित है। संवत् १९७१ में यह ग्रंथ संपन्न होकर प्रकाशित हो गया।

इस ग्रंथ की मूल प्रेरणा के संबंध में हम बता आये हैं कि वे बचपन में माताजी को सुखसागर सुनाया करते थे और उसमें भी मथुरागमन विशेष रूप से बांचा जाया करता था, जिसके श्रवण पर माता के अश्रु बालक अयोध्यासिंह के हृदय में कृष्ण-प्रेम के साथ करुणा के अंकुर भी उत्पन्न करते होंगे। यहीं से कृष्ण उनकी आत्मा में साहित्य-प्रेरणा बनकर जागे। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में कृष्ण उनके सगुण भगवान् थे जो कि उनकी प्रथम रचना "श्रीकृष्ण-चरित्र" में व्यक्त हुए थे। इसके कुछ वर्षों के पश्चात् उन्होंने रुक्मिणि-परिणय, प्रद्युम्नविजय, प्रेमांबुवारिधि आदि की रचना की। इसी समय उन्होंने बंगला का अभ्यास आरंभ किया और बंगला में उन्होंने बंकिम बाबू को पढ़ा। उनके उपन्यासों से उपाध्याय जी में कुछ नई दुनिया का प्रकाश आया। उनकी जीवन-रूढ़ियों की कड़ियां खनखना उठीं। तभी उन्होंने बंकिम बाबू का "कृष्णचरित्र" भी पढ़ा। इस ग्रंथ ने उनके विचारों में नई उत्तेजना दी और मौलिक प्रतिभा को विकसित किया। इस रूप में उनके प्रसिद्ध कृष्ण-काव्य प्रियप्रवास की प्रेरणा में बंकिम की रचना दूसरा कारण बनी। और अंतिम तीसरा कारण बन गई उनकी अपनी वियोगी

अवस्था। सारी सामग्री प्रस्तुत थी। इस वियोगावस्था ने हृदय का बांध तोड़ दिया और माता के द्वारा दी गई भक्ति की प्रेरणा, बंकिम द्वारा भरी गई लोक-कल्याणमय चरित्र की भावना वियोगसंतप्त हृदय की करुणा से मूर्तिमान हो उठी;—यही है प्रियप्रवास की जन्म-कथा का रहस्य और यही है उसके मूल की प्रेरणा का भेद।

प्रियप्रवास की कथा का आरंभ कंस के बुलावे पर कृष्ण के मथुरागमन के समय से होता है। उनके वियोग के दिनों में उनके अलौकिक कार्यों की रह-रहकर याद आती है। याद करने वालों में बाल, वृद्ध, युवक युवतियां, बच्चियां और बूढ़ियां सभी हैं। पशु-पक्षियों तक को वियोगसंताप दहता है। चेतन ही नहीं, जड़ में भी उनके वियोग का परिताप प्रतिभासित है। कृष्ण मथुरा जा कंस को मार भूमि-भार तो हर देते हैं, परंतु राज्यव्यवस्था के लिये उन्हें वहीं रुकना पड़ता है। उनके वियोग में उनके सभी प्रिय उन्हें याद कर-कर आंसू बहाते हैं—उन्हें बुलाते हैं, परंतु लोक-कल्याण की भावना उन्हें मथुरा में रहने के लिये विवश करती है। वियोग-संतप्तों के संदेश सुनकर वे धीरज-दिलासे के लिये उद्धव को मथुरा भेज देते हैं। थोड़ा संतोष तो इससे भले ही मिल जाता है, परंतु वियोगिनियों की तृप्ति तो इससे नहीं हो पाती। और जब विश्वोपकार की भावना से प्रेरित होकर वे मथुरा से आगे द्वारिका में जा बसते हैं तब तो बस हृदयों की

करुणा मानो कगारे काटकर ही वह निकलती है। यही प्रवास की कथा का ढांचा है।

कृष्णवियोग में तपने वालों में राधा भी एक है और उसका परिताप दूसरों से कुछ बढ़ा-चढ़ा ही है। यही नहीं कि वही कृष्ण की याद में पीड़ित है, परंतु कृष्ण भी स्मृति की पीड़ा में आंसू-आंसू हो रहे हैं। इतना होने पर भी मानवहित के निमित्त वे कष्ट-सहन-तत्परता और अनासक्ति के पथ पर चले ही चलते हैं। यही प्रियप्रवास का संदेश है। कृष्ण-चरित्र में व्यापक लोककल्याण-भावना निःस्वार्थ प्रेम, अन्यायमर्दन, नीतिपाटव और वीरत्व का जो महत्व है उसे आज तक के भक्तों ने कहां समझ पाया था। उन्होंने तो उस महत् चरित में से केवल एक 'प्रेम-भावना' ही ली थी और वह भी दूषित तथा कलंकित रूप में। सूर-कालीन कृष्णकाव्य की दूषित दुर्गंध से दुःखी होकर तुलसी ने रामचरितमानस के द्वारा कृष्णरूप में कलंकित हुए विष्णु का दोषपरिहार, राम का मर्यादापूर्ण चरित्र प्रस्तुत करके किया था, परंतु इससे कृष्ण-चरित्र की पावनता निखर फिर भी नहीं पाई थी। कृष्ण को वास्तविक कृष्ण के रूप में प्रस्तुत करने का काम—सच्ची मानव-मूर्ति के रूप में प्रस्तुत करने का काम उपाध्याय जी द्वारा ही हुआ। प्रियप्रवास में उच्च कोटि की श्रृंगारिक पुट भले ही हो, परंतु कृष्ण के महान् पुजारियों, उपासकों और सगुण भक्तों की-सी अश्लीलता उसमें कहीं नहीं आने पाई।

प्रियप्रवास कृष्ण-चरित्र संबंधी पहला सफल प्रबंध-काव्य है। कृष्ण-चरित्र को लेकर ब्रजविलास जैसे प्रबंध-ग्रंथ तो पहले भी लिखे गये थे, परंतु उन्हें सफलता कहां मिल सकी। और हमारी समझ में तो हिंदी साहित्य में भारतीय मर्यादा-संस्थापन की दृष्टि से रामचरितमानस के पश्चात् यही एक ग्रंथ है जिसने भगवान् की पावनता का संरक्षण किया। काव्य-रचना की दृष्टि से तो यह बहुत ही ऊंचा स्थान रखता है। हम देखते हैं कि प्रियप्रवास का आरंभ जिस ऊंची उठान से होता है, अंत तक वही निभती चलती है। रामचरितमानस जैसे महान् ग्रंथ में भी किष्किंधा आदि कांडों में कवि की अपील ढीली पड़ गई है, परंतु प्रियप्रवास अपनी एक गति से प्रवाहित रहा है।

कृष्णकाव्य में प्रियप्रवास की एक और नवीनता है—उसका खड़ी बोली में प्रणयन। उपाध्याय जी खड़ी बोली के सर्वप्रथम सफल प्रबंधकार कहे जा सकते हैं। इस ग्रंथ की एक और विशेषता यह भी है कि इसमें वर्णिक छंदों का प्रयोग हुआ है और छंद अतुकांत रखे गये हैं। ये दोनों बातें हिंदी में एक नवाविष्कार की भांति समभिनंदनीय हुईं। ये वर्णिक छंद और अतुकांतता हमारे यहां संस्कृत से लाये गये। इनके साथ ही साथ संस्कृत-पदावली की सुलभ मधुरता और मृदुता भी बड़ी सुंदरता के साथ प्रस्तुत हुई। ब्रजभाषा वाले अभी यह कह ही रहे थे कि खड़ी बोली की काव्य-रचना में ब्रजभाषा के जैसा रसमाधुर्य और मृदुता संभव नहीं, कि उपाध्याय जी ने

खड़ी बोली में सफल रचना प्रस्तुत करके विरोधियों के मुंह बंद कर दिये।

प्रियप्रवास की भाषा के संबंध में विपक्षियों का कथन है कि "उनके पदों में सिवाय क्रियापदों के शेष सभी कुछ संस्कृत का है।" प्रियप्रवास की भाषा तत्समता को लेकर चली है और उसे चलना भी इसी आधार पर चाहिये था, क्योंकि उसे अवध और ब्रज की बोलियों से तो कुछ लेने का अधिकार रह ही नहीं गया था। फिर यह रचना थी हिंदी की; यदि हिंदुस्तानी जबान की रचना होती तब भी बीत जाती, परंतु जब हिंदी के लिये रचना हो रही थी तो फिर उपाध्याय जी शब्द-भांडार के लिये और किस द्वार पर जाते। और फिर साथ ही एक बात यह भी है कि आक्षेपयोग्य पद केवल कुछेक ही हैं। यदि तुलसी की विनय-पत्रिका के प्रारंभिक कुछ पदों को देखकर उन्हें कठिन काव्य का भूत कहा जाने लगे तो यह अन्याय ही होगा। वस्तुतः यह सब एक व्यर्थ का प्रोपेगैंडा था खड़ी बोली के कट्टर विरोधियों की ओर से, जो कि कुछ समय आगे चलकर अपनी मौत मर गया। वर्ना रहस्यवादियों और छायावादियों की अभि-व्यंजकता और लाक्षणिकता के सामने तो किसी ने भी एक बार जबान से नहीं कहा कि इसमें भाषा की जटिलता है। और साथ ही, इस रंग में तो भाषा के साथ भाव भी दुरूह होते चले जाते रहे, परंतु सब वाणियों को पाला मारा रह गया। प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी वर्मा की रचनाओं को लोगों ने निर्विरोध "महान्"

कहकर अपना लिया—भाषा की कठिनता की शिकायत किसी ने भी नहीं की। बस, आगे चलकर ऐसा प्रतीत होता गया मानों विरोधशक्ति दम तोड़ती गई हो, वर्ना प्रसाद की 'कामायानी' और निराला के 'तुलसी' की भाषा पर भी प्रियप्रवास की भाषा की भांति ही टीका-टिप्पणी होती और अवश्य होती। अस्तु।

कविगण-वंदनीय कालीदास ने वियोग-संतप्तावस्था में यक्ष को बंदीगृह की परिधि में मेघ-सा दूत देकर कल्पना की नई सूझ-बूझ का गौरव पाया था। यदि उपाध्याय जी ने भी वियोगिनी राधा के लिये दूतत्व-भारवाही वायु को अपने महाकाव्य का पात्र बनाया हो तो कुछ कम महत्व की बात नहीं। बादल का तो विश्वास भी क्या, न जाने कहां बरसकर अपने अस्तित्व को भी विलीन कर दे—प्रेम-पात्र तक वह पहुँच भी पाये या नहीं, परंतु वायु की सर्वदिशि व्यापक गति के लिये कुछ भी अगम्य नहीं। वायु की लहरों का तो लय भी कहीं नहीं। आकाशवाणी-यंत्र (रेडियो) में जो सत्ता काम कर रही है हमारे कवि ने उसका बल और भरोसा लेकर अपनी बुद्धि की वैज्ञानिकता का पूरा-पूरा परिचय दिया है।

प्रियप्रवास में करुण रस प्रधान है। इसके अतिरिक्त शांत, शृंगार, वीर, भयानक और वात्सल्य का अपना अच्छा स्थान है। कवि की कारुण्य धारा की अनुभूति के लिये ये पद देखिये—

"यह सकल दिशायें आज रो सी रही हैं।
यह सदन हमारा है हमें काट खाता ॥
मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है।
विजन विपन में है भागता सा दिखाता ॥१॥

कटु ध्वनि करुणा की फैल सी गई है।
तरुवर मन मारे आज क्यों यों खड़े हैं ॥
अवनि अति दुखी सी क्यों हमें है दिखाती।
नभ पर दुख छाया पात क्यों हो रहा है ॥२॥

सब नभ तल तारे जो उगे दीखते हैं।
यह कुछ ठिठके से सोच में क्यों पड़े हैं ?
ब्रज दुख लखके ही क्या हुए हैं दुखारी।
कुछ व्यथित बने से क्या हमें देखते हैं ॥३॥"

शृंगार की मोहनी मूर्ति राधा का चित्रण किन शब्दों में हुआ है, यह भी दर्शनीय है—

"रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेंदु बिंबानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली ॥
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य सन्मूर्ति थी ॥"

शृंगार के लिये किस कोमलकांत पदावली का प्रयोग हुआ है यह देखते ही बनता है।

अब एक पद में माता यशोदा का शांतमिश्रित वात्सल्य भी देखिये—

"प्यारे आवें मृदु बयन कहें प्यार से अंक लेवें।
ठंडे होवें नयन दुख हों दूर मैं मोद पाऊं॥
ए भी हैं भावमय उर के और ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जगहित करें गेहे चाहे न आवें॥"

"जगहित करें"—पद में लोक-कल्याण-भावना का दर्शन कितना सुंदर है। यही लोक-कल्याण-भावना कवि की आत्मध्वनि है जो उसने अपनी सांसों से काव्य के अंतर में फूंकी है।

उनके काव्य के माधुर्य-प्रदर्शन के लिये अधिक उदाहरण प्रस्तुत करने का न यहां स्थान ही है और न औचित्य ही। इस-लिये इतने से ही संतोष करना चाहिये। हां, यह जान लेना चाहिये कि प्रियप्रवास अपनी रसात्मकता का काव्य है। अलं-कार का भार उस पर नहीं डाला गया है। उपाध्याय जी काव्य-क्षेत्र में रसवादी हैं, इसलिये उनके यहां अलंकारों की गढ़ावट का प्रयत्न कभी नहीं होता। प्रियप्रवास में जो अलंकार आये भी हैं उनमें श्रमशीलता की झलक-मात्र भी नहीं दीख पड़ेगी। वैसे, उनके यहां उपमा, रूपक, दृष्टांत, श्लेष, स्वाभावोक्ति, दीपक और उपमा तथा अनुप्रास का स्वाभाविक सौंदर्य भी काव्य-काया को सज्जित करता मिलेगा। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से रचयिता

को अपनी रचना में पूर्ण सफलता मिली है। हां, हाय-तोबा और रोने-धोने का आधिक्य अपील को बल देने की अपेक्षा कुछ ढीला अवश्य कर देता है। यत्र-तत्र व्याकरण के नियमों से बंधनमुक्त होने का कवि-सुलभ गुण उनमें भी वर्तमान है, परंतु इस प्रकार के सभी नगण्य अवगुण उनके संस्कृत-वृत्तों की मधुर शब्द-योजना में छिप-से जाते हैं। भाषा के प्रवाह में वे या तो दीखते ही नहीं और यदि दिखाई पड़ भी गये तो फिर वे नजरबट्टू का काम देते प्रतीत होते हैं। अब इस विषय पर अधिक न कहकर इतना लिखकर ही संतोष करेंगे कि प्रियप्रवास की वियोगांत प्रणय-कथा में कवि का अमरत्व रम गया है। भले ही आज न सही, कल का जगत् उन्हें अपने युग का जागरूक कवि कहेगा और उसे नवचेतना का चतुर-चितेरा स्वीकार करेगा।

कविवर मैथिलीशरण 'गुप्त'

गुप्त जी का जन्म चिरगांव, जिला झांसी में संवत् १६४२ में हुआ। इनके पिता रामचरण गुप्त राम के परम भक्त थे। स्वभाव से उदारता और प्रकृति से सरलता इन्हें पैतृक अधिकार में प्राप्त हुई।

जिस समय गुप्त जी ने लिखना आरंभ किया उस समय हमारे साहित्य में एक नई क्रांति आ रही थी जिसमें भावों और विचारों के साथ भाषा का कायाकल्प कर देने की भी योजना थी। इसी समय "सरस्वती" का जन्म हुआ। द्विवेदी जी इस सरस्वती मंदिर के पुजारी बने। उन्हीं ने इस क्रांति का नेतृत्व किया।

कविता में खड़ी बोली को एकाधिकार प्राप्त कराने के लिये वे सरस्वती का वरदान पाकर उठे। उन्हीं की गुरुच्छाया में गुप्त जी ने भी काव्य-रचना आरंभ की। उसी गुरुच्छाया के प्रताप से विकसित होते हुए गुप्त जी आज जिस स्थान पर पहुचे हैं वह अविदित नहीं हैं। गुप्त जी उस समय प्राचीनों में एक नवीन चेतना लेकर आये थे और उसी गति से वे आज तक चले आ रहे हैं। समय के साथ उन्होंने स्वयं को बदल डालने की चेष्टा की थी, परंतु सब व्यर्थ रहा। छायावादियों का बोलबाला होता देख इन्होंने भी उनके सुर में सुर मिलाने का उद्योग किया, परंतु आत्मा में रमे सीधे-सादे स्वर के कारण उस मार्ग में चल न सके। वास्तव में उस ओर जाने के लिये जिस पीड़ा, दर्द, टीस, हाय-पुकार और न जाने किस-किस वस्तु का नाट्य करने की आवश्यकता थी, उसकी उनमें समर्थ ही न निकली। उनके यहां तो वही प्रसादगुण-संयुक्त सरस प्रवाहिकता थी, जिसमें न प्रतीक कल्पना को स्थान था और न अभिव्यंजकता और सांकेतिकता को। इस रूप में वे तो जिस गति से चले थे उसी से चलते रहे। वस्तुतः वे तो पं० रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में "सामंजस्यवादी" कवि हैं। उनकी आत्मा में प्रतिक्रिया का बल ही नहीं। इसलिये उनके परिवर्तन का भी कुछ अर्थ नहीं निकलता। और इसीलिये हम उन्हें अपने साहित्यकारों में जहां आरंभ में पुरानों के बीच नया-सा पाते हैं वहां आज नयों में पुराना-सा।

गुप्त जी अपने युग के सर्वज्ञात कवि कहे जा सकते हैं।

इस युग में जितनी सर्वप्रियता उन्हें प्राप्त हुई है उतनी अन्य किसी भी कवि को नहीं। उनकी इस ख्याति में अधिक सहायक उनके काव्य की सरसता ही रही।

गुप्त जी राष्ट्रगीत के गायक कहे जाते हैं। वैसे, उनका राष्ट्र विशुद्ध हिंदुत्व की नींव पर खड़ा हुआ है, परंतु उनकी आध्यात्मिकता ने भी उनकी रचना में अपना एक प्रमुख स्थान प्राप्त किया है। उनकी दर्जनों रचनाओं में प्रमुख ग्रंथ हैं—भारत-भारती, यशोधरा और साकेत। इनमें प्रचार की दृष्टि से जो स्थान भारत-भारती का है वही प्रबंध-पटुता की दृष्टि से साकेत का। यही साकेत उनकी रामभक्ति का परिचायक है। साकेत में उन्होंने राम को वही पद दिया है जो भक्त-कवि राम और श्याम को भक्तिक्षेत्र में पहले से देते आये थे। साकेत के राम उनके यहां ब्रह्मरूप में आये हैं। इसी साकेत ने कवि-कीर्ति को अमरत्व प्रदान किया है।

गुप्त जी ने कुछ रचना कृष्ण-साहित्य को भी प्रदान की है। कृष्णकाव्य संबंधी जयद्रथवध और द्वापर तो उनकी मौलिक रचनाएं हैं और विरहिणी-व्रजांगना बंगला से अनूदित। विरहिणी-व्रजांगना बंगला के प्रसिद्ध कवि माईकेल मधुसूदन दत्त के इसी नाम से प्रसिद्ध काव्य का अनुवाद है। जयद्रथवध खंड-काव्य है और द्वापर है मुक्तक रचना।

जयद्रथवध ७ सर्गों का खंडकाव्य है, जिसमें करुण रस

की सजीवता मूर्तिमान हो उठी है। इस ग्रंथ में कृष्णचंद्र का महत्व महाभारत के नेता के रूप में स्पष्ट हुआ है। साथ ही उन्हें अलौकिकता भी प्रदान की गई है। सातवें सर्ग में जयद्रथ के वध पर धर्मपुत्र कहते हैं—

"आकारहीन तथापि तुम, साकार संतत सिद्ध हो।
सर्वेश होकर भी सदा तुम, प्रेम-वश्य प्रसिद्ध हो।।"

तथा

"हे सच्चिदानंद प्रभो! तुम, नित्य सर्व सशक्त हो।
अनुपम अगोचर, शुभ परात्पर, ईश-वर अव्यक्त हो।।"

परंतु फिर भी गुप्त जी की आध्यात्मिकता का झुकाव राम की सगुणता की ओर ही अधिक रहा है। छठे अध्याय में जयद्रथ को मारते समय अर्जुन के मुख से कहलवाया गया है—

"है व्यर्थ चेष्टा भागने की, मृत्यु का तू ग्रास है।
भज "राम नाम" नृशंक! अब तो काल पहुँचा पास है।।"

इस "राम नाम भजन" में गुप्त जी की राम-भक्त आत्मा का ही संकेत रहा है। किमधिकम्, इस ग्रंथ का आरंभ ही जानकी-जीवन की जय बोलकर किया गया है। यही बात उनका राम-भक्त होना सिद्ध करती है। ग्रंथारंभ में जानकी-जीवन की जय वाला पद यह है—

"वाचक! प्रथम सर्वत्र ही, 'जय जानकी-जीवन' कहो।
फिर पूर्वजों के चरित की, शिक्षा तरंगों में बहो।।"

द्वापर में कवि ने बलराम, कृष्ण, उद्धव, नंद, यशोदा, राधा और विधृता आदि के चरित्रों का सुंदर वर्णन किया है। कवि ने महाभारत काल के इन रत्नों का सुंदर चरित्र बड़े संक्षेप से भावमय शब्दों में चित्रित किया है। द्वापर की रचना में हमें कवि की सामंजस्यपूर्ण बुद्धि का परिचय मिलता है। उसका संदेश है—

"वेदवादरत ठंडे जी से सोचो और विचारो।"

विधृता के चरित्र में कवि ने जिस प्रेमलीनता का चित्रण प्रस्तुत किया है वह रसिक कृष्ण-भक्तों की गोपियों से कहीं अधिक ममतामय है; उसमें कहीं अधिक पावनता है और साथ ही अधिक प्रेम-व्यंजना भी। वह कृष्ण को सच्चे हृदय से प्रेम करती है। कृष्ण-दर्शन के इच्छुक होने पर घर वाले उसे रोक लेते हैं, परंतु रोका तो केवल शरीर जाता है, आत्मा तो नहीं। वह कृष्ण-प्रेम में देह त्याग कर देती है।

बलराम, उद्धव, नंद, कृष्ण, यशोदा और राधा के चरित्र भी अच्छे ढंग में प्रस्तुत किये गये हैं। इन चरित्रों को कवि के हृदय की क्रांति का कलात्मक चित्रण कहना चाहिये, जिसमें हमारा आज का समाज झांकता हुआ प्रतीत होगा। रचना की दृष्टि से द्वापर एक सफल कृति है।

विरहिणी-व्रजांगना यद्यपि अनूदित रचना है, तथापि मधुरता, सरसता, सरलता और प्रेम की तरलता की दृष्टि से

इस ग्रंथ की कविता बड़ी सुंदर रही है। उदाहरण के लिये कुछ पंक्तियां प्रस्तुत की जाती हैं—

"पहुंचो जब हरि निकट सुनाना, उन्हें राधिका का रोना।
श्याम बिना गोकुल रोता है, कह देना, साक्षी होना॥
और नहीं कुछ कह सकती हूं, लज्जावश मैं हूं नारी।
मधु कहता है ब्रजबाले मैं, कह दूंगा बातें सारी॥"

वस्तुतः गुप्त जी की महत्ता भक्त-कवि के नाते नहीं बल्कि राष्ट्रगीत के गायक होने के नाते है, और उसका एक बड़ा आधार उनकी भारत-भारती है। भारत-भारती में जो करुण संगीत आरंभ हुआ है वही उनकी कविता में प्रायः सर्वत्र व्याप गया है। बस, करुणा उनके काव्य की हो गयी और वे करुणा के। यशोधरा के आंसुओं में यही करुणा झांकती दृष्टि-गोचर होती है। साकेत भी तो केवल भक्तहृदय का काव्य नहीं; उसमें भी उपेक्षित उर्मिला के आंसुओं की करुणा स्पष्ट है। इस दृष्टि से हम निःसंकोच कह सकते हैं कि साकेत-रचना में उनकी प्रेरक बुद्धि ने भक्ति का तो कोई भार वहन नहीं किया, बल्कि उसकी रचना में भी वही करुणा प्रेरक है जिससे भारत-भारती और यशोधरा शबलित हैं। इसी प्रकार उनकी पंचवटी, जयद्रथवध और द्वापर आदि रचनाओं में भी वे ही कारुण्य के आंसू हैं। इसी आधारभूमि के आश्रय पर कहा जाता है कि गुप्त जी करुणा के कवि हैं।

गुप्त जी इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं, इस नाते उनकी कृष्णकाव्य संबंधिनी अत्यल्प रचना का भी एक मोल है। उनकी रचना में स्वाभाविकता और मार्मिकता का अलौकिक सौंदर्य झलकता है। वे प्रबन्ध और मुक्तक—दोनों ही के सफल कवि कहे जा सकते हैं। खड़ी बोली को कविता-क्षेत्र में खड़ा करने में गुप्त जी का भी पर्याप्त हाथ रहा है।

★

तृतीय अध्याय

इस युग के कुछ अन्य कृष्ण-काव्यकार

वस्तुतः यह युग अपनी नवीनता के लिये प्रसिद्ध रहेगा। किसी एक विशेष परिधि में बंधकर चलता कोई विरला ही कवि दिखाई पड़ेगा। पद्य के साथ गद्य भी हाथ-पैर फैला रहा था। गद्य की भांति पद्य भी एक नहीं, अनेक धाराओं में प्रवाहित था। इस लिये इस युग में पवित्र भक्ति-प्रेरक बुद्धि से रचा हुआ काव्य अत्यल्प मात्रा में प्राप्त हुआ। प्रायः सभी कवियों में विविधता का मोह दिखाई देती है। इस युग के दो महान् कवि भारतेंदु और कविसम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय की रचनाएं इस बात का प्रमाण हैं। दोनों कवियों ने गद्य और पद्य—दोनों की प्रायः सभी धाराओं को अवगाहन करने का शक्तिभर प्रयत्न किया। भारतेंदु परम वैष्णव होते हुए भी कृष्ण-भक्ति-रचना के अतिरिक्त देशभक्ति, जातिभक्ति, प्रेम, हास्य और इतिहास आदि पर भी लिखते रहे। उधर उपाध्याय जी यदि कृष्ण-भक्ति-धारा में न्हाये तो रामधारा में भी; यदि एक ग्रंथ ब्रजभाषा लेकर

रीतिभांडार को दिया तो साथ ही बोलचाल की भाषा लेकर सामयिक नीति पर मुहाविरा-कोश भी प्रस्तुत कर डाला। यदि नाटक-रचना करके नाटककारों में नाम पाया तो उपन्यासकार भी बने। और इतना ही क्या—निबंधकार, आलोचक और इतिहासकार भी तो बने ही। और ये ही दो क्या, आज के अनेक कवियों ने अनेक ओर योग्यता दिखाकर अपनी बहुज्ञता का परिचय दिया है। इसी वैविध्य-प्रियता में आज के युग में कृष्ण-साहित्य का ऐसा कोई भी कवि नहीं हुआ जिसे भक्ति-युग के किसी महाकवि की कोटि में लाया जा सके। उपाध्याय जी के प्रियप्रवास का अपने ढग से अच्छा मान है, परंतु फिर भी उसे भक्त-आत्मा की अनुभूति नहीं कहा जा सकता। पर हां, कृष्णकाव्य की, भक्ति-कालीन मधुर लहरी की स्मृति हमारे काव्यकारों के कानों में रह-रहकर जगती थी। इसलिये उससे सर्वथा वंचित रहना भी कठिन ही था। यही तो कारण है कि जनप्रिय राम-भक्त कवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी भूले भटके कृष्ण-काव्य-पथ में पद रख ही दिया। इसी प्रकार और भी ऐसे कई कवि हैं जो हैं तो किसी और ही राह के, परन्तु कृष्ण-माधुरी उन्हें भी अपनी ओर खींच कर ले आई। आगे हम कुछ ऐसे ही कवियों का उल्लेख करेंगे।

महाराजा रघुराजसिंह

ये रींवा के महाराज थे। संवत् १८८० में इनका जन्म

हुआ और संवत् १९३६ में मृत्यु। अनेक ग्रंथों के लेखक तथा ब्रजभाषा के प्रथम नाटककार महाराज विश्वनाथसिंह इनके पिता थे। पिता के देहावसान पर संवत् १९११ में ये सिंहासनासीन हुए। ये मृगयाप्रेमी तथा विद्याव्यसनी नरेश थे। स्वभाव से सरल तथा सौम्य थे। हिंदी-संस्कृत का उन्हें अच्छा पांडित्य प्राप्त था। इनके नाम से रचे अनेक ग्रंथ बताये जाते हैं, परंतु वास्तव में उनमें से कई उनके आश्रित कवियों के हैं।

रघुराजसिंह राम-भक्त थे, परंतु कृष्ण-भक्ति पर भी इन्होंने दो ग्रंथों की रचना की। इनकी रचना अवधी तथा बाघेलखंडी-मिश्रित ब्रजभाषा है।

बाबा रघुनाथदास सनेही

बाबा जी अयोध्यावासी तथा रामानुज संप्रदाय के प्रसिद्ध संत थे। इन्होंने संवत् १९११ में विश्राम-सागर नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की। यह बड़े आकार का ६१२ पृष्ठों का २ खंडों में विभाजित ग्रंथ है। इसके प्रथम खंड में पौराणिक कथाएं हैं, दूसरे में कृष्ण-चरित्र (जन्म से रुक्मिणी-विवाह तथा प्रद्युम्नोत्पत्ति तक) वर्णित है। इस रूप में ग्रंथ का दूसरा भाग ही कृष्ण-भक्ति-काव्य संबंधी रचना मानी जा सकती है। इस ग्रंथ की रचना अवधी भाषा में दोहे-चौपाइयों में हुई है।

गुणमंजरीदास

इनका वास्तविक नाम गुल्लू गोस्वामी था। ये संवत् १८८४ में वृंदावन में उत्पन्न हुए। श्री रमणदयालु इनके पिता थे और श्री सखी देवी माता। इनके दो विवाह हुए थे; पहली पत्नी निःसंतान मर गई, दूसरी के गर्भ से श्री राधाचरण गोस्वामी का जन्म हुआ जो कि भारतेंदु के प्रसिद्ध सखा थे। ये चैतन्य महाप्रभु की शिष्य-परंपरा में से थे। ब्रजभाषा और ब्रजविहारी के अनन्योपासक थे। इनका रचा कोई कविता-ग्रंथ नहीं; केवल फुटकर पद ही प्राप्त हुए हैं। ये पद पुरानी परिपाटी के ढंग पर हैं। उनकी रचना से एक पद उद्धृत किया जाता है—

"हमारो धन स्याम जू कौ नाम।
जाकौ रटत निरंतर मोहन, नँदनंदन घनस्याम॥
प्रतिदिन नव-नव महामाधुरी, बरसति आठौ जाम।
गुणमंजरि, नव-कुंज मिलावै, श्री वृंदाबन धाम॥"

श्री नवनीतलाल 'चतुर्वेदी'

ये ब्रजभूमि-निवासी थे। संवत् १९१५ में उत्पन्न हुए और संवत् १९८९ में परलोकवासी। इन्होंने छोटे-छोटे कई ग्रंथ लिखे जिनमें "कुब्जा-पचीसी" सबसे अधिक प्रसिद्ध है। नवनीत जी का यह ग्रंथ अपने ढंग का नवीन ही रहा है। कृष्ण-साहित्य में गोपियों की ओर से तो कुब्जा को बहुत कुछ

अच्छा-बुरा कहा गया है, परंतु कुब्जा की ओर से मौन ही रही है। इस रचना का उद्देश्य कुब्जा के पक्ष का समर्थन था। इस ग्रंथ को ग्वालकुल कुब्जाष्टक के ढंग का ही समझना चाहिये। कविवर रत्नाकर जी इन्हें अपना काव्यगुरु मानते थे। उन्होंने इनसे काव्यशास्त्र का अध्ययन किया था। नीचे के पद से उनकी काव्य-माधुरी का अनुभव हो सकता है—

"प्रेम प्रन प्राग बैठि त्रिपथ त्रिबेनी न्हाय।
पाय पद पूरन प्रवीनता हिये धरी॥
नवनीत साधे सब साधन सनेह जोग।
लगन जमाय प्रान ध्यान धारना धरी॥
आयो अब्धि विकल वियोग की तपन तापि।
नाम जपि तेरो तातें विपत सबै हरी॥
रसिक बिहारी एक द्वार पै ठढ्यौ है आइ।
रूप-रस-माधुरी की मांगत मधूकरी॥"

तुलसीराम शर्मा 'दिनेश'

दिनेश जी बंबई के रहने वाले भक्त-हृदय के कवि हैं। इनकी रचना में रसमाधुरी और भावों की कोमलता का अच्छा पुट मिलता है। इनके रचे अनेक ग्रंथों में से श्यामसतसई और कृष्ण-चरित्र कृष्ण-काव्य-धारा में अच्छा स्थान रखते हैं। कृष्ण-चरित्र लगभग पौने तीन सौ पृष्ठों का अच्छा काव्यग्रंथ है जो आठ अंगों में समाप्त हुआ है। श्यामसतसई में अच्छी नवीनता

दिखाई पड़ी है। भाषा इनकी सरस और सरल ब्रजभाषा है दिनेश जी को कृष्ण-काव्य-परंपरा में नवीनतम कवि मानना चाहिये। उनकी श्यामसतसई के कुछ दोहे देखिये—

"मुझसे पूछो तो कहूं किसके नयन विशाल।
राधा के लोचन बड़े जिनमें स्थित गोपाल॥
माधव के उर में यदपि बसते दीन अनाथ।
राधा उर को देखिये बसते दीनानाथ॥
पड़ा रो रहा पालने उपनिषदों का तत्व।
नंद-भवन में विश्व का मूर्तमान अमरत्व॥
कंस-केश पकड़े हुए शोभित यों घनश्याम।
करि-कर धर ज्यों खींचता केहरि तनय ललाम॥"

❋

इसी प्रकार और भी कुछ रचनाएं हैं जिन्हें कृष्ण-साहित्य का अंग माना जा सकता है। इन रचनाओं के रचयिताओं का उद्देश्य प्रायः कुछ न कुछ लिखने से था; भक्ति अथवा कृष्ण-साहित्य की वृद्धि से इनका कोई प्रमुख संबंध नहीं दिखाई पड़ता। एक-दो में यदि भक्ति की चेतना है भी तो उनके काव्य में कोई साहित्यिक गौरव नहीं दिखाई पड़ता। रचना साधारण कोटि की रह जाती है। किसी-किसी ने भाषा की स्वस्थता भी खो डाली है। सो, इन कारणों से हम ऐसे कवियों, उनकी रचनाओं, का किसी पृथक् अध्याय में उल्लेख न करके यहीं पर संक्षिप्त परिचय देंगे।

इन कवियों में आगरा जिले के नजीर अकबराबादी और सैयद छेदाशाह का नाम कविता की साहित्यिक दृष्टि से अच्छे दर्जे का माना जा सकता है। नजीर का कविताकाल संवत् १८३७ के लगभग है। इनकी रचनाओं का संग्रह कुल्लियाते नजीर नाम से प्रसिद्ध है। कृष्णकाव्य के लिये, इनका लिखा 'कृष्ण का बालचरित' अच्छी देन है। रचना बहुत बड़ी नहीं, परंतु भाषा के चलते रूप में उनके हृदयोद्गार का सच्चा रूप प्रस्तुत हुआ है।

सैयद छेदाशाह संवत् १८३७ में उत्पन्न हुए और १७६४ में उनकी मृत्यु हुई। वे जीवन के प्रायः पिछले समय में जबलपुर में रहते रहे। काव्य-साहित्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था। रहन-सहन में परमोदार थे। स्वभाव में कृष्ण-भक्ति कूट-कूटकर भरी थी। उनकी लिखी लगभग २ दर्जन पुस्तकें हैं जिनमें से आत्म-बोध नाम की भगवद्गीता-टीका और श्रीकृष्ण-पंचाशिका, ये दो पुस्तकें कृष्णकाव्य संबंधी भी हैं। दोनों पुस्तकें अभी अप्रकाशित हैं। रचना अच्छी है।

स्त्री-कवियों के द्वारा भी कृष्ण-साहित्य में कुछ वृद्धि हुई। महारानी गिरिराजकुमारी, जुगुलप्रिया और कीरतिकुमारी ने कृष्ण-भक्ति पर अच्छी रचनाएं कीं।

गिरिराजकुमारी—(संवत् १८२० से १८८० तक) ये भरतपुर की राजमाता थीं। साहित्य और राजनीति से उनक

अच्छा लगाव रहा। हिंदी के प्रति उनमें अटूट प्रेम था। भरतपुर राज्य में हिंदी को अच्छा पद मिलना उन्हीं की कृपा का फल था। स्त्री-शिक्षा और समाज-सुधार का भी उन्हें अच्छा ध्यान रहा। कृष्ण-भक्ति उनमें कूट-कूटकर भरी थी। 'श्री ब्रज-विलास' उनका भक्ति-गीतों का संग्रह-ग्रंथ है। रचना साधारण कोटि की है, परंतु उसमें एक भक्त-हृदय की अनुभूति है।

जुगुलप्रिया—(संवत् १६२८ से १६७८ तक) ये छतरपुर-नरेश विश्वनाथसिंह जी की धर्मपत्नी थीं। विचारों से कट्टर वैष्णव थीं। धार्मिक साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। हिंदी के प्रसिद्ध कवि वियोगीहरि इन्हें मातृवत् मानते थे। जुगुलप्रिया जी ने कृष्ण-संबंध में फुटकर पदों में रचना की है। इन पदों का 'जुगुलप्रिया पदावली' नाम से संग्रह प्रकाशित हुआ है।

कीरतिकुमारी—(संवत १६५२ में जन्म) इनका पूरा नाम महारानी परिहारिन मां साहिबा है। ये रीवांनरेश की माता हैं। स्वभाव से दयालु और साधु-सेवी वैष्णव मतानुयायिनी हैं। इन्होंने कृष्ण-भक्ति-विषयक भजनों की रचना की है। इन भजनों का संग्रह "श्री राधा-कृष्ण-विनोद-भजनावली" नाम से प्रकाशित हुआ है। इन्होंने अपनी रचना में ब्रजभाषा और खड़ी बोली, दोनों का प्रयोग किया है। खड़ी बोली की रचना में उर्दू-फारसी के शब्दों का भी जी भरकर प्रयोग किया गया है।

ब्रजभाषा की कविता में प्रवाह के साथ-साथ भक्ति-माधुर्य का अच्छा दर्शन होता है।

इस गद्य-युग में कथात्मक साहित्यकारों में से कुछ नाटककारों ने भी कृष्णकाव्य को कुछ न कुछ दिया ही। **पं० बलदेवप्रसाद मिश्र** (संवत् १६२६ से १६६१ तक) ने कई नाटक लिखे जिनमें से 'प्रभासमिलन' अच्छे मार्मिक प्रसंगों का चितेरा बन पड़ा है। इस नाटक में ब्रज के नंद, यशोदा और गोप- गोपियों का प्रभास-क्षेत्र में वसुदेव, कृष्ण और बलराम से भेंट होने का अच्छा चित्रण रहा है। मिश्र जी मुरादाबाद-निवासी पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र (प्रसिद्ध टीकाकार) के भाई थे। इन्होंने लगभग २५ ग्रंथों की रचना की। इसी प्रकार दिल्ली-निवासी **पं० नारायणप्रसाद 'बेताब'** ने संवत १६७१ के लगभग 'कृष्ण-सुदामा' नाटक रचा और इसके पश्चात् प्रसिद्ध कथावाचक **पं० राधेश्याम जी** ने अपने अन्य अनेक नाटकों के साथ 'रुक्मिणी-मंगल' और 'कृष्णावतार' की भी रचना की। इन पिछले दोनों नाटककारों के नाटक रंगमंच के लिये तो अत्युपयोगी रहे, परंतु उनका उद्देश्य जनसाधारण का मनोरंजन रहा, इसलिये उनकी रचना साधारण कोटि की ही रही। निःसंदेह साधारण पढ़े-लिखे भक्त-पंथियों के लिये उनमें बहुत कुछ रहा।

★

चतुर्थ अध्याय

पुनरवलोकन तथा भविष्य के चरणों में

कृष्ण-भक्ति का आरंभिक आदर्श भले ही पवित्र और स्वच्छ रहा हो, परंतु रीतिकाल की शृंगारिकता ने उसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहने दिया। रीति की काया ने, सौंदर्य-कल्पना ने, कृष्ण का जो चरित्र चित्रित किया उसमें कवियों के 'हृदय की भड़ास' के अतिरिक्त और क्या था? वह भक्ति थी या कृष्ण के मोहक रूप-मात्र की अभिव्यक्ति—यह हम पहले ही बता आये हैं। रीतिकारों की संगति में उस काल के भक्तों ने भी उसी सौंदर्य-प्रतिमा का चित्र प्रस्तुत करने में समय व्यतीत किया। भक्ति-साहित्य में शृंगारिकता की यह नग्नता अधिक समय तक नहीं सहन की जा सकी। रीतिकाल वास्तव में भारतीय राजदर्बारों की विलासिता के एक पहलू का फटा हुआ पर्दा है। साहित्य के संबंध में यह कथन कि वह अपने समय की स्थितियों का पूर्ण परिचायक होता है, हमारे साहित्य से स्पष्ट है। एकछत्रशासन के अभाव ने भारतीय मदांध नरेशों

को पारस्परिक झगड़ों में धकेल दिया। इस गृह-कलह के समाचार ने उत्तर-पश्चिमी भारतीय द्वारों को देश की सुख-शांति के लिये घातक सिद्ध किया। मुसलमान लुटेरों ने देश को जी भरकर लूटा और जी-चाहे ढंग पर शासनाधीन भी किया। इन्हीं रासों (रासा=झगड़ा) के दिनों में रासो नाम के वीररसपूर्ण ग्रंथ रचे गये। वीररस-रचनाकाल की समाप्ति पर भक्ति-साहित्य का निर्माण आरंभ हुआ। यह इस बात का परिचायक है कि देश ने या तो अपने परित्राण के लिये भगवान् तक अपनी करुण पुकार पहुँचाने का प्रयत्न किया था अथवा अपनी सभी विपत्तियों को भूलकर अपमान को सहते हुए देश ने एक बार फिर से अपने धीरज और आत्मसंतोष का परिचय देकर अपनी विश्वविदित आध्यात्मिकता का प्रदर्शन किया था। परंतु इसमें हृदय की आवाज कम थी और दिखावा कहीं अधिक। यही कारण है कि भक्ति में गुरुडम और पंथवाद ने जन्म लिया; यही कारण है कि उस काल में धर्माचार्यों द्वारा प्राय: परनिंदा और आलोचना संबंधी एक अच्छा खासा साहित्य तैयार हो गया। देश इस समय भी संपन्नावस्था में रहा होगा, क्योंकि हम देखते हैं कि इस परतंत्रता के युग में भी भक्तों ने वैयक्तिक नावों में चढ़कर भगवान को बेड़ा पार लगा देने की अर्जी भेजी है। हम देखते हैं कि इस परतंत्रता के युग में देश की पीड़ा में समष्टि की अनुभूति नहीं आने पाई है। भारतीय आध्यात्मिकता की व्यक्तिगत साधना ने इस आड़े समय में

इस दृष्टि से देश को बड़ी भारी हानि में रखा। यदि इस पीड़ा में समूहभर की आवाज मिल गई होती तो भारतीय साहित्य में इस भक्ति के पश्चात् रीति के स्थान पर किसी क्रांतियुग की ही अवतारणा हुई होती, परंतु देश के दुर्भाग्य से ऐसा हो न सका। ज्ञात होता है, देश अपनी पराजय को बड़े धीरज और संतोष के साथ भाग्य-विधान और जन्मांतर-भोग समझकर सह ही गया। इस भाग्य-विधान और जन्मांतर-भोग की धारणा ने देश को अकर्मण्यता प्रदान करने में एक भारी सहयोग दिया होगा; और अंधे भक्तों के मालपूड़ों पर मौज उड़ाने वाले भक्त-संत गाते रहे होंगे—

"अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम॥"

जब सबके दाता राम हो ही गये तो फिर मुस्लिम-शासकों तथा उनके अधीन राजा-महाराजाओं के दर्बारी विलासों की आनंदानुभूति में क्या टोटा रह जाता। यही कारण है कि भक्ति-क्षेत्र का निराशावाद रीति की छाया में पनपा। और यदि सच पूछा जाये तो रीति का भी नाम बदनाम ही हुआ; सचमुच तो यहां नारी की रूप-माधुरी ही बखानी जाती रही। शृंगार इस युग में खुलकर खेला। भक्तों—विशेषतया कृष्ण-भक्तों ने इस बहती गंगा में खूब गोते लगाये। रसिकों ने सोच-विचारकर ही कहा होगा कि इस धारा में—

"अनबूड़े बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अंग।"

यों; तो कृष्णकाव्य अपने आपमें पहले से ही काफी पाक-साफ चला आ रहा था, अब जो रही-सही कसर थी वह इस रीतिकाल में निकल गई। महाभारत का वह प्रधान नायक भक्ति-युग में बालरूप बिताकर शृंगार-युग में पूरी मस्त जवानी से प्रविष्ट हुआ। परतु आज उसके हाथों में न तो सुदर्शन था और न ही गांडीवधारी के रथाश्वों की बागडोर; न उसमें नीति-बुद्धि का गौरव था और न गीता की कर्मण्यता का संदेश। क्या भक्ति की चेतना और क्या शृंगार-युग का रंग, दोनों कृष्ण को गोपियों को भटकाते, तड़पाते, रुलाते, सहलाते ही रहे। लगभग ५०० वर्षों का युग हमारे साहित्य में एकतानता से जमुना, बांसुरी, चितवन, मटकन, क्रीड़ा, लीला, चीरहरण, कुंजविहार, मिलन, बिछुड़न और पीड़-तड़प के गीत गाता रहा। इस रसिकता ने भारतीय मर्यादा को भले ही एक ठेस पहुँचाई हो, परंतु हमारे विद्वान् आलोचकों का कहना है कि इसी रूप-माधुरी ने उन्हें रसिक रसखान और बीवि ताज की वह कृष्ण-प्रेमानुरक्ति भी दी जो विधर्मी मुसलमानों से और किसी भी प्रकार से असंभव थी। अस्तु।

सन् '५७ के भारतीय सैनिक-विद्रोह से भारतीय राजनीति में एक नये दौर का आरंभ होता है। यूँ तो देश में अंग्रेज इस क्रांति से लगभग दो सौ वर्ष पहले ही आ चुके थे, परतु उनके शासनकाल की अब तक एकादशी ही पूर्ण हुई थी।

इतिहासकारों के कथनानुसार प्लासी के युद्ध ने देश के भाग्य का अधिकार एक और नई विदेशी जाति के हाथ में दे दिया था। इन सौ वर्षों के मध्य में कंपनी के गुंडे शासकों ने देश को जिस बुरी तरह से लूटा उसकी चर्चा इतिहास के अनेक ग्रंथ करते हैं। इतने लंबे समय में अंग्रेजी हथकंडों से पिसी भारतीय जनता की सूखी ठठरियां एक बार फिर झनझना उठीं, जिसका फल संवत् १९१४ की भारतीय क्रांति थी, जिसे आज के विद्यार्थी सन् '५७ के गदर के नाम से रटते हैं। भले ही वह हमारी शासक के प्रति गद्दारी थी, परंतु यह उचित थी और शानदार थी। इस क्रांति का प्रभाव हमारे साहित्य की गति-विधि पर भी पूरा-पूरा पड़ा। धीरे-धीरे कविता की भावुकता ढीली पड़ने लगी और विचारों की भाषा में नया रंग आने लगा। साहित्य में जीवन की टटोल होने लगी— रूढ़ियों का गढ़ टूटने लगा। उपयोगिता के नाम पर प्राचीनता का खंडन और नवीनता का प्रतिपादन होने लगा। विचारों की नवचेतना ने अटल विश्वासमय श्रद्धा का परित्याग करके तार्किकता का प्रतिपादन आरंभ किया। यही कारण है कि इस विकासोन्मुख विचारधारा के लिये मात्रा और गणों के बंधन में चलने वाली पद्य असमर्थ सिद्ध हो गई और इसका स्थान गद्य ने ले लिया। यद्यपि पद्य का सर्वथा लोप नहीं हो गया, पर हां, उसे भी अपना कलेवर अवश्य परिवर्तन करना पड़ा। यही परिवर्तित कलेवर स्वच्छंद छंद का रूप धारण करके बढ़ा, जिसे आधुनिक युग के आचार्य महोदय ने रबड़ छंद और

केंचुआ छंद कहकर चिढ़ाया था। परंतु युग-कविता-क्रांति-प्रतीक प्रसाद, निराला और पंत अपने कार्य में कृत-अर्थ ही रहे। कविता-कलेवर के साथ ही कविता के विषय भी बदले। इस युग की कविता न जाने कितनी धाराओं में फूटकर बही। उसमें अनेक वाद पनपने लगे, उसमें अनेक प्रकार की नीति का विवेचन होने लगा। तर्कतत्वों की प्रधानता के कारण इस युग के साहित्य में भक्ति या तो दबी ही रही और यदि उठी भी तो किसी और ही ध्वनि में। इसीलिये आज के कृष्णकाव्य में से कृष्ण का प्राचीन ईश्वरत्व लोप होना आरंभ हो गया और उसके स्थान पर उन्हें महाभारतकाल का लोकनायकत्व प्रदान किया जाने लगा। सो प्रियप्रवास, जयद्रथवध तथा द्वापर में हम पहले ही दिखा आये हैं। निःसंदेह पुरानी परंपरा अब भी निःशेष हो गई, परंतु उस परंपरा में अब जान भी तो नहीं रह गई।

कृष्णकाव्य की कायापलट करने में जहां देश की राजनैतिक परिस्थितियां प्रमुख सहायक रही हैं, वहां एक जोरदार कारण धार्मिकता भी रही है। भारतीय विद्रोह के साथ-साथ ईस्ट इंडिया कंपनी की शासनसत्ता का भी अंत हो गया और अब उसकी बागडोर पार्लियामेंट के हाथों में चली गई। अभी तक भारतीय सत्ता को समाप्त करने के लिये बल का प्रयोग होता था। ईस्ट इंडिया कंपनी के गवर्नर जेनरल भारतीय सुख-साधनों को मनमाने ढंग से हड़पते जा रहे थे, परंतु अब

पार्लियामेंट के वैधानिक शासकों ने बल के स्थान पर छल को अधिक विशेषता दी। महारानी विक्टोरिया ने घोषणा कर दी कि अबसे अन्य कोई भी प्रदेश अंग्रेजी राज्य में शामिल नहीं किया जायेगा। साथ ही और भी अनेक प्रतिज्ञाएं की गईं जिनमें से एक यह भी थी कि प्रत्येक मतावलंबी को अपने मत-प्रचार की स्वाधीनता होगी। यह स्वाधीनता चाहे और किसी मतावलंबी के लिये हितकर सिद्ध हुई हो या नहीं, परंतु ब्रिटिश शासक के पादरियों को अपने हथकंडे साधने के पूरे अधिकार प्राप्त हो ही गये थे। बस, समय पाकर ईसाइयत ने भारतीय हिंदू जनता के निर्बल अंग पर चोट कर ही दी। यदि इस ईसाइयत को कहीं १०-१२ वर्ष खुलकर खेलने को और मिल गये होते तो शायद हमारा जातीय जीवन आजतक सर्वथा बदल चुका होता, परंतु इसी समय संस्कृत के प्रकांड पंडित महर्षि दयानंद सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ। स्वामी जी की प्रखर प्रतिभा और विशाल तार्किकता ने जहां एक ओर प्राचीन पाखंडवाद और रूढ़िवाद पर विजय प्राप्त की वहां साथ ही ईसाइयत के पंजों पर भी वार किया। उन्होंने वेदोक्त सनातन धर्म का प्रतिपादन किया, जिसे वैदिक धर्म कहा गया और उनके द्वारा संस्थापित आर्यसमाज द्वारा उसे संरक्षण प्राप्त हुआ। स्वामी जी ने वेदोक्त मत के अतिरिक्त अन्य सभी मतों-सिद्धांतों को अमान्य ठहराकर अवतारवाद का खंडन किया। यहां भक्ति के क्षेत्र में सगुणता सर्वथा अस्वीकार थी। उनकी निराकारोपासना-पद्धति ने मूर्ति-

पूजकों की भावुकता पर बड़ी भारी चोट की। मूर्तिपूजकों की "भावुकता" के लिये ही विशेष रूप से कहने का तात्पर्य है कि मूर्तिपूजकों की संख्या भले ही लोप न हो गई हो, परंतु विचारशील जनता के मध्य—पठित समाज के बीच—आर्य-समाज का प्रभाव अवश्य पड़ा। आर्यसमाज के देशव्यापी आंदोलन ने मूर्तिपूजा को एक भारी ठेस पहुंचाई। इसीलिये इस युग में कोई महत्वपूर्ण रचना सगुणता को लेकर प्रस्तुत नहीं हो सकी। और यही कारण है कि यदि इस युग के प्रमुख कवियों ने कृष्ण-चरित्र को लिया भी तो नव्य चेतना के प्रभाव के साथ। तभी कृष्ण आज के साहित्य में अवतार नहीं बन पाये; वे तो लोकनायक ही रह गये।

आर्यसामाजिक विचाराधारा ने प्राचीन पाखंड को तोड़-फोड़कर नव्य चेतना के प्रसार में एक चमत्कार-सा उत्पन्न कर दिया। साथ ही उसने पश्चिम की ओर से आने वाले सभ्यता के तूफान को निःशक्त बनाने में भी बड़े नाम का काम किया। यदि देश में आर्यसमाज का प्रादुर्भाव न हुआ होता तो पश्चिम की ओर से प्राप्त हुआ राष्ट्रीयता का पाठ आज के दिन किसी और ही रूप में पढ़ाया जाता। और हम तो यहां तक कहने का दुःसाहस करने में भी नहीं झिझकेंगे कि यदि भारतीय जनता के महान् व्याख्याता महर्षि दयानंद की छाया न प्राप्त हुई होती तो संभवतया आज के दिन भारतीय राजनीति की बागडोर भी केमी पश्चिमी सभ्यता के ढांचे में ढले नेता के ही हाथों में

होती। जबकि आज के दिन धार्मिकता को महत्व देने वाले देशों के कई नेता ईसाई धर्म स्वीकार कर चुके हैं, तब भी भारतीय राजनीति के कर्णधार अपने गौरव को भूले नहीं हैं। पचास करोड़ जनता के देश का नेता जेनरल च्यांगकाई शेक सुदूरपूर्व में—भगवान् बुद्ध के उपासकों की पुण्यभूमि में ईसाइयत स्वीकार कर सकता है, परंतु भारत के पूज्यतम नेता महात्मा गांधी की आत्मा में आज भी गीता के उपदेष्टा का कर्मवाद रमा हुआ है। भले ही उनके चर्खे में किसी को कबीर के चर्खे की तान सुन पड़े, परंतु हमें तो उसमें भी भगवान् कृष्ण के चक्र सुदर्शन का ही आभास मिलता है। वैसे वे चाहे हरिकीर्तन करें, चाहे राम नाम जपें और चाहे गीतोपदेश की महत्ता का प्रसार करें, परंतु उनकी उपासना पर कोई सगुणता का दोष कभी नहीं आरोप सकता। उनका तो कथन है,—"मैं सत्य को ही भगवान् मानता हूं।" भला निर्गुणता का समर्थन इससे अधिक और क्या होगा! सारांश यह है कि आर्यसमाज की निराकारोपसना ने हमारे समाज और हमारे राजनैतिक वातावरण को बहुत सीमा तक प्रभावित किया है। और जब आज भारत राजनैतिक प्रभाव में चल रहा हो तो निर्णय करना सर्वथा सरल हो जाता है कि भविष्य के चरणों में कृष्णकाव्य की क्या रूपरेखा होगी।

भक्ति की मस्ती में चलने वाले कृष्ण-काव्यकार कुछ भी प्रस्तुत करें, रसिकजन उनको किसी भी रूप में प्रस्तुत करके अपना मनोरंजन करें, उन्हें रोका नहीं जा सकता, परंतु इतना

स्पष्ट है कि कृष्ण अपने समय के प्रसिद्ध राजनीति-वेत्ता थे— केवल राजनीति-वेत्ता ही नहीं, राजनैतिक नेता भी। आज के राजनीति-प्रधान युग में यदि उनके संबंध में आडंबरयुक्त, शृंगार-सनी रचनाएं प्रस्तुत की गईं तो उनका उचित सम्मान नहीं हो पायेगा। आज के युग में पूर्वसाहित्य की कृष्ण-वर्णना से यदि घृणा नहीं तो प्यार और मोह भी नहीं है। समय की चुनौती है कि या तो द्वापर के उस महापुरुष के नेतृत्व की परख की जाय, वर्ना यदि उसे परंपरागत ढंग पर जनता के मन बहलाने की वस्तु समझते चलने का इरादा है तो फिर क्यों न उन्हें आधुनिक ढग का श्यामवर्णी साहबबहादुर ही बना दिया जाये। आखिर शृंगारिक युग में और भी तो अनेक मनोमोहक रूप बदलते ही रहे हैं। इसी दृष्टिकोण को नाथुराम शंकर 'शर्मा' ने अपनी एक कविता में प्रस्तुत किया है। देखिये—

"हे वैदिक दल के नरनामी।
हिंदू मंडल के करतार॥
स्वामि सनातन सत्यधर्म के।
भक्ति भावना के भरतार॥१॥
सुत वसुदेव देवकी जी के।
नंद यशोदा के प्रिय लाल॥
ब्याहक चतुर रुक्मिणी जी के।
रसिक राधिका के गोपाल॥२॥
ऊंचे अगुवा यादव कुल के।

वीर अहीरों के सिरमौर ॥
दुविधा दूर करो द्वापर की ।
डालो रंग ढंग अब और ॥३॥
भड़क भुला दो भूतकाल की ।
सजिये वर्तमान के साज ॥
फैसन फेर इंडिया भर के ।
गोरे गाड बनो ब्रजराज ॥४॥
गौर वर्ण वृषभानु सुता का ।
काढ़ो काले तन पर तोप ॥
नाथ उतारो मोर मुकुट को ।
सिर पर सजो साहिबी टोप ॥५॥
पौडर चंदन पोंछ लपेटो ।
आनन की श्री ज्योति जगाय ॥
अंजन अँखिओं में मत आंजो ।
आला ऐनक लेहु लगाय ॥६॥
रबधर कानों में लटका लो ।
कुंडल काढ़ मेकराफून ॥
तज पीतांबर कंबल काला ।
डाटो कोट और पतलून ॥७॥
पढ़क पादुका पहनो प्यारे ।
बूट इटाली का लुकदार ॥
डालो डबल वाच पाकट में ।

चमके चेन कंचनी तार ॥८॥
रख दो गाढ़ गठीली लकुटी।
लाना बैंत बगल में मार ॥
मुरली तोड़ मरोड़ बजाओ।
बांकी बिगुल सुने संसार ॥९॥
नैननिये नज व्योमयान पै।
करिये चारों ओर बिहार ॥
फक-फक फूं-फू फूंको चुरुट।
उगले गाल धुंआ की धार ॥१०॥
यों उत्तम पदवी फटकारो।
साधो मिस्टर नाम धराय ॥
बांटो पदक नई प्रभुता के।
भारत जाति भक्त हो जाय ॥११॥

उपरोक्त पद्य में कवि ने आज की जनता के उस हृदय का आभास दिया है जिसमें कृष्ण के उस रूप से घृणा हो चुकी थी, जिसके गढ़ने में भक्तों के रसिक हृदयों ने और शृंगारिकों के विलास-विगलित हृदयों ने अपनी सारी कला लुटा डाली थी। और सत्य तो यह है कि आज की तार्किकता के युग में कोई भी अनुपयुक्त और अनुपयोगी वस्तु स्वीकार नहीं हो सकती। आज की तार्किक बुद्धि कहती है कि मनुष्य में महत्व की संपन्नता उसमें महानता प्रदान करती है। वह महापुरुष हो सकता है, गौरव-पूर्ण चरित्र होने से वह मर्यादा-पुरुषोत्तम कहला सकता है, परंतु

यह बात बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होती कि सर्वसत्तासंपन्न, अजर-अमर ईश्वर को भी कार्य-सिद्धि के लिये जन्म लेना ही पड़े; और फिर, हमारी तरह दुनिया के पापड़ बेलने के पश्चात् मरना भी पड़े, संसार में आकर स्वयं तो विषय-वासनाओं में फंसे और संसार को वासना-परिलिप्त होने पर दंड का भागी ठहराये। और जब ईश्वर भी मां-बाप वाला हो जाये तो वह सर्वोच्च कैसे ? आखिर फिर उससे बड़े बाबा, दादा और लक्कड़दादा जो उससे आगे हुए तो सर्वोच्चता तो स्वयमेव असत्य सिद्ध हो गई। इत्यादि अनेक वैधानिक प्रश्न इस सगुणता के विरोध में खड़े हो जाते हैं। फिर वेद भी तो ऐसा नहीं कहते। यजुर्वेद का एक मंत्र है—

"सपर्यागच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः अध्याय ४०। मंत्र ८॥"

यहां भगवान् को सर्वशक्ति-संपन्न, अकाय और स्नायुरहित बताकर जिस निराकारता की पुष्टि की गई है उसके कारण जनता को सरलता से बहकाना कठिन हो गया है।

इसके अतिरिक्त पश्चिमी वातावरण से संपर्क रखने वाले भी किसी ऐसी बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं होते जिसकी पुष्टि बुद्धितत्वों से न हो सकती हो। इसी रूप में हम निकट वर्तमान के दो प्रमुख विद्वानों के नाम प्रस्तुत कर सकते हैं

जिन्होंने अपनी सरस गद्यरचना द्वारा कृष्ण-साहित्य की अभिवृद्धि में सहयोग दिया है। 'कृष्णचरित्र' के लेखक बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार 'बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय' और 'योगीश्वर कृष्ण' के लेखक (गुरुकुल विश्व-विद्यालय, कांगड़ी के भू० पू० आचार्य) पं० चमुपति जी एम० ए० के विषय में कहा जा सकता है कि उन्होंने कृष्ण-जीवन-गाथाओं में ऐसी किसी भी अत्युक्ति को स्वीकार नहीं किया जो आज के ज्ञान-विज्ञान से असिद्ध ठहराई जा सके। इनमें प्रथम ग्रंथ बंगला से अनुवाद हुआ है और दूसरा मौलिक है। प्रियप्रवास के निर्माण में बंकिम बाबू के कृष्णचरित्र का भारी हाथ रहा है। संभव है आगे आने वाले समय में योगीश्वर कृष्ण भी किसी नव्य चेतना को पथ-प्रदर्शन प्रदान करे। कुछ भी सही, आगे आने वाला कृष्ण साहित्य एक नवीनता का प्रतीक होगा। आगे आने वाले समय में चर्व-चर्वण को प्रमुखता नहीं दी जा सकेगी।

हमारे पूर्वकथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि हम कृष्ण की सगुणता के गायकों को हतप्रभ सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। भक्ति के क्षेत्र में अपने-अपने विश्वास का मोल है। भक्ति (ईश्वर) संबंधी मत-मतांतरों के विरोधों की विवेचना करना हमारा कार्य नहीं। हम तो केवल कृष्ण-काव्यकारों की रचनाओं के कवितागत उस महत्त्व को देखने चले थे जिससे हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है। हां, यह निःसंकोच कहा जा सकेगा

कि आधुनिक युग के कुछ कवियों को छोड़कर शेष सभी पुरातन कवियों ने कृष्ण के महत्व का वास्तविक मूल्यांकन नहीं किया। अलौकिक गुणसंपन्न उस चरित्र में अवतारी कलाओं का प्रदर्शन करके उन्हें गोपियों में घसीट ले जाने की अपेक्षा महाभारत का नेतृत्व प्रदान करना अधिक श्रेष्ठ होता। कृष्ण में साकार भगवान् की अनुभूति से कुछ रसिक कृष्ण-भक्तों की आत्मतृप्ति भले ही हो गई हो; लेकिन उनमें हमारे समाज को कोई नैतिक बल भी मिला है? इसका उत्तर गर्दन झुकाए बिना शायद ही कोई दे सके। यदि कृष्ण की साकारता की नींव में कुछ भी बल होता तो सूर के लगभग समकालीन महाकवि तुलसीदास कृष्ण-पंथ की गतिशील पगडंडी को छोड़कर साहित्य में मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की अवतारणा कभी न करते। राम-भक्ति-काव्य का प्रारंभ अपने काल की कृष्ण-काव्यधारा की प्रतिक्रिया ही तो थी। और इसी प्रतिक्रिया का आभास हमें उपाध्याय जी और गुप्त जी की कृष्ण संबंधी रचनाओं में दिखाई पड़ता है। इसी परंपरा के अध्ययन के आधार पर हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि यदि भविष्य में कृष्णकाव्य का विकास हुआ तो उसमें ऐसे ग्रंथ ही मान पा सकेंगे जिनमें कृष्ण की मानवीय कलाओं का सद्-निरूपण हो सका हो। ये ही ग्रंथ हमारे साहित्य के अमूल्य रत्न कहे जा सकेंगे।

इत्योम्